मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष में भारतीय संगीत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. लिट् (संगीत) उपाधि हेतु प्रस्तुत)
शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

डॉ. साहित्य कुमार नाहर

वरि0 प्रवक्ता, सगीत एव प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोध निदेशिका (एडवाइज़र)

डॉ. गीता बनर्जी

पूर्व अध्यक्षा, सगीत एव प्रदर्शनकला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सन् - 2000

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि "मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष में भारतीय संगीत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन" विषयक शोध प्रबन्ध, डॉ० साहित्य कुमार नाहर, वरि० प्रवक्ता, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. लिट (संगीत) उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में स्वयं लिखा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध डी. लिट संबंधी अध्यादेशों के अन्तर्गत प्रस्तुत की जा रही है, जिसकी सामग्री पूर्णतः मौलिक है।

अतः मैं संस्तुति करती हूँ कि इसे डी. लिट (संगीत) उपाधि हेतु अग्रेत्तर कार्यवाही एवं परीक्षणार्थ प्रेषित किया जाये।

गीता बनर्जी

दिनांक : 31.1.2000

(डॉ. गीता बनर्जी)
शोध निर्देशिका (एडवाईज़र)
पूर्व अध्यक्ष, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

पंच ललितकलाओं में सर्वप्रमुख स्थानासीन भारतीय संगीत, सृष्टि के उद्‌भव काल से ही हमारे जन जीवन के एक अभिन्न अंग के रूप में अपने महत्व से हम लोगों को आप्लावित करता आ रहा है। हमारे देश में संगीत की सुदृढ़ गौरवशाली परंपरा रही है, जिसके अनुसार धर्म एवं अध्यात्म से जुड़ा होने के कारण संगीत को सभ्यता एवं संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाता है। वैदिक काल से लेकर आज तक प्रायः इतिहास के प्रत्येक दौर में संगीत के सांस्कृतिक सान्निध्य एवं सामाजिक सामंजस्य के अनेकों उद्धरण हमें ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। एक ओर तो धार्मिक अध्यात्म से जुड़ाव के कारण भक्ति भावमय अंग से इसकी धार्मिकता का बोध होता है, जिसके अन्तर्गत यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य की कौन कहे, स्वयं देवी-देवतावृंद संगीत से जुड़े रहे हैं तथा संगीत के गुणगान में वर्षों-वर्षों तक साधनारत रहे हैं, वहीं दूसरी ओर संस्कृति एवं समाज के अभिन्न अंग होने के कारण संगीत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्ता भी वर्षों से हमारे देश के सांस्कृतिक विकास की कहानी कहती है। विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास को देखना है तो

प्रथमतः उस देश के संगीत का विहंगावलोकन करना चाहिये।

भारतीय संगीत, जिसमें नाद-ब्रह्म को ईश्वर का रूप कहा गया है, इसकी स्तुति करते मानव तो क्या, स्वयं ईश्वर भी नहीं थके हैं। विद्वानों के अनुसार संगीत का प्रभाव जड़-चेतन, सजीव-निर्जीव, पशु-पक्षी प्रायः सभी पर अनुभव किया जाता है। इतना ही नहीं प्रकृति से मानों पूरी तरह सामंजस्य ही संगीत पर आधारित है तथा प्रायः प्रत्येक गतिविधि संगीत से आबद्ध है।

संगीत के अन्तर्गत नाद, स्वर, लय, ताल, छंद अर्थात् स्वर एवं लय की गत्यात्मकता, सृष्टि की गत्यात्मकता के साथ आबद्ध है। स्वर-लय से विमुख होना ही अशुभ का संकेत देने लगता है। संगीत को कला के रूप में भी मान्यता दी गई है, जो अमूर्त्त ध्वनियों एवं अखंडित लय का समन्वित रूप है।

संगीत कला को प्रारंभ से ईश्वर आराधना, मोक्ष मार्ग प्राप्ति के साधन एवं साधना के विषय के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है, जहाँ मन-मस्तिष्क की निश्चिन्तता अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इतना ही नहीं संगीत के अन्तर्गत साधना के साथ-साथ प्रदर्शन पक्ष एवं शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था के अनुपालन की भी पुरानी परंपरा है, जिस हेतु भिन्न-भिन्न अवयवों की महत्ता अपने आप में दृष्टिगोचर होती है, सर्वमान्य भी है।

संगीत में परंपरागत परिवार का सदस्य होने के कारण, बाल्यकाल से ही पारिवारिक वातावरण में प्रातः से लेकर रात्रि तक संगीतमय माहौल, जिसके अन्तर्गत साधना, शिक्षण एवं प्रशिक्षण इत्यादि की विशेष व्यवस्था, से शनैः शनैः अवगत होता रहा हूँ। साथ ही गुरू-पिता, जो स्वयं संगीतज्ञ होने के साथ-साथ कुशल अध्यापक भी थे, के सान्निध्य में रहते हुये संगीत कला के प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण प्रदान करने के विभिन्न अवस्थाओं की गतिविधि को बारीकी से देखते-सुनते रहने से उन्हें मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष में जांचने-परखने की दिशा में मन की उन्मुखता को सशक्त आधार मिला। शैक्षिक ज्ञानार्जन के क्रम में विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण प्रत्येक विषय वस्तु के मूल सिद्धांत एवं सूक्ष्म विश्लेषण की अन्तर्दृष्टि के सहारे संगीत विषय से संबंधित प्रायः प्रत्येक पहलू को भी गहनता से देखने-परखने की ओर रुझान उत्पन्न हुआ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत एवं ललित कला विभाग में अध्यापक के रूप में सेवारत होने के बाद इलाहाबाद शहर में निवास करते हुये एक ओर अध्यापन कार्य में विभिन्न प्रकार के अनुभवों से ओत प्रोत होता रहा, साथ ही कई श्रेष्ठ विद्वानजनों एवं कलाकारों से समय-समय पर उपलब्ध साथ संगत एवं बातचीत के क्रम में संगीत के भिन्न-भिन्न पहलु के बारे में प्राप्त उनके अनुभव ज्ञान जन्य जानकारियों ने भी व्यक्तिगत सांगीतिक एवं वैज्ञानिक जिज्ञासु प्रवृति को अनुप्रेरण प्राप्त

होने लगा कि संगीत के सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था एवं सांगीतिक मूल तत्वों तथा अवयवों को मनोविज्ञान के कुछेक समतस्थ सिद्धांतों के संदर्भों में अध्ययन किया जाये।

इसी संदर्भ में मन में यह भी विचार उत्पन्न हुआ कि चूंकि कला का संबंध भी मानव मन-मस्तिष्क से है और कलाओं की अभि-व्यक्ति मानव मन की अन्तर्अनुभूतियों के प्रकटीकरण के रूप में मानी जाती है, अतः मनोविज्ञान विषय, जिसे भी मन और व्यवहार से संबंधित मानते हुये मन-मस्तिष्कीय अवस्था से निकटतम माना जाता है, के सहारे संगीत विषय के मुख्य अवयवों का अध्ययन किया जाये तो एक विशेषानुभव के साथ-साथ ज्ञान के एक अलग पहलु से साक्षात्कार प्राप्त होने का सुअवसर प्राप्त होगा। अतः मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के परिपेक्ष में संगीत के विभिन्न रूप एवं अवयव के विश्लेषणात्मक अध्ययन का विचार मन में आया।

इस विषय वस्तु पर प्रथमतः सन् 1990 में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय द्वारा "भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" विषय पर डी. फिल की उपाधि प्राप्त की। उक्त शोध कार्य के दौरान ही यह अनुभव होने लगा था कि अभी उक्त विषय वस्तु से संबंधित कार्य में आगे भी काफी संभावनायें हैं, जिस पर आगे गहनता से कार्य करने की आवश्यकता है, साथ ही संगीत के तात्विक अवयवों के अतिरिक्त संगीत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलु को भी मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष

में अध्ययन की आवश्यकता है। अतएव उसी विषय वस्तु के सन्निकट उक्त अनुशीलन हेतु प्रस्तुत शोध कार्य के लिये मनोविचार उन्मुख हुआ। जो गुरूजनों की कृपा, ईश्वर के आशीर्वाद एवं शोध निदेशिका डॉ0 गीता बनर्जी की स्नेहिल प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से मूर्तरूप को प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिसके अन्तर्गत - मनोविज्ञान के विकास, मनोविज्ञान के संदर्भित तत्व, संगीत की उत्पत्ति, विकास, तात्विक साम्य, संगीत में राग गायन के विविध रूप तथा लोक जीवन व लोक संस्कृति के संदर्भित संगीत की व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर सम्यक् विचार किया गया है तथा अपने अध्ययन, अनुभव एवं विचारों को संदर्भित ग्रंथों के उद्धरणों से परिपूरित किया गया है। राग संबंधी अध्याय में राग-चित्रांकन के अन्तर्गत प्रस्तुत दस राग माला चित्र, जो शोध कार्य के निमित्त उद्धृत किये गये हैं, उनकी तैयारी में कुछ तकनीकी कारणों से रंग की उत्कृष्टता कुछ हल्की हो गई है। तथापि उनके विवरण से रागों के संदर्भ में रंगों एवं आकृतियों के संयोजन की संगतता का भान तो मिल ही जाता है। शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्रियों की शुद्ध प्रस्तुति एवं प्रासंगिकता के हेतु भरपूर प्रयास किया गया है, तथापि त्रुटि होना मानव कार्यों के स्वभाव के अन्तर्गत ही है। अतएव क्षमा की आकांक्षा करते हुये यह अकिंचन प्रयास, ईश्वर, मां सरस्वती, गुरूजनों एवं गुणीजनों को सादर समर्पित करता हूँ।

आभार ज्ञापन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्णता प्राप्त करने एवं इस कार्य की परिणति में सर्वशक्तिमान परमपिता परमेश्वर, और गुरूजनों की स्नेहिल कृपा तथा कई मित्रवर एवं शुभाकांक्षियों की शुभकामनायें प्रतिफलित हुई हैं, जिनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना प्रथम दायित्व मानता हूँ।

प्रथमतः प्रातः स्मरणीय वीणा पुस्तक धारिणी माँ सरस्वती की असीम कृपा के प्रति अपने को नत मस्तक करता हूँ जिनकी शाश्वत कृपा ही ज्ञानरूपी भंडार है। तत्पश्चात् संगीत मनीषी गुरूवर-पिता स्व. पं. प्रहलाद प्रसाद मिश्र "दासपिया" पूर्व निदेशक, संगीत संस्थान, पटना विश्वविद्यालय, पटना के श्रीचरणों में विनयपुष्प रूपी कृतज्ञता अर्पित करूँगा जिनकी छत्र छाया एवं ज्ञान आवरण मेरे लिये धरोहर के रूप में है। वे आज हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनका आशीष हमारे लिये सतत् संबल का कार्य करती है।

इसी श्रृंखला में गुरूतुल्य संगीत मर्मज्ञ श्रद्धेय प्रो. रामाश्रय झा "रामरंग" भूतपूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, संगीत एवं ललित कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति भी आभार

प्रकट करना चाहूंगा, जिन्होंने न केवल शोधकार्य में, अपितु सांगीतिक-सामाजिक ज्ञान के प्रायः प्रत्येक अवस्था में मुझे कृपापूर्वक प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन प्रदान किया है।

इस शोध कार्य की निर्देशिका परम आदरणीया अग्रजा डॉ० गीता बनर्जी, पूर्व अध्यक्ष, संगीत एवं ललित कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति भी हृदय से आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूंगा, जिनके विद्वतापूर्ण कुशल निर्देशन में न केवल इस कार्य की परिणति हुई है वरन् जिनके सहयोगपूर्ण प्रेरणा, एवं मार्गदर्शन ने हमेशा उत्साहवर्द्धन किया है, अन्तःशक्ति प्रदान की है।

. संगीत एवं ललित कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के पूर्व विभागाध्यक्ष सुप्रसिद्ध संगीत विद्वान एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के प्रणेता श्रद्धेय प्रो. उदय शंकर कोचक जी के प्रति भी हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करूंगा, जिन्होंने अपने विपुल ज्ञान भंडार एवं दीर्घ अनुभव से हमेशा मुझे प्रोत्साहित किया और मार्गदर्शित भी।

शोध कार्य के संबंध में समय-समय पर तथ्यों के संकलन एवं सद्-विचारों से प्रेरित करने में नगर एवं देश के कई विद्वानों से कृपापूर्वक सहयोग प्राप्त हुआ है जिनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करना चाहूंगा, इनमें कुछ प्रमुख हैं - प्रो. रमाचरण त्रिपाठी, प्रति कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं विभागाध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रो. जनक पाण्डे, निदेशक,

पं. गोविन्द बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद, प्रो. के. सी. गंगराड़े, पूर्व प्रोफेसर, अध्यक्ष व डीन, प्रदर्शन कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डॉ. के. एल. अग्रवाल, पूर्व रीडर, शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इत्यादि।

प्रस्तुत शोध कार्य में राग माला चित्रों को उपलब्ध कराने एवं अध्ययन में सहयोग प्रदान करने के लिये इलाहाबाद संग्रहालय के श्री श्रीरंजन शुक्ला तथा चित्रों के छायांकन कार्य संपादन हेतु श्री हिमांशु तिवारी, फोटोग्राफी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति भी आभार प्रकट करना चाहूंगा।

शोध कार्य में संगीत संबंधी ज्ञानात्मक जानकारी तथा अनुभव से अवगत कराने में जिन संगीत विद्वानों एवं श्रेष्ठ कलाकारजनों की स्नेहिल कृपा प्राप्त हुई है, उनके प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ। कुछ प्रमुख हैं - पद्मश्री पं. किशन महाराज, वाराणसी, पद्मश्री प्रो. (श्रीमती) एन. राजम, वाराणसी, पं. राजन-साजन मिश्र, दिल्ली, प्रो. लालजी श्रीवास्तव, इलाहाबाद, डॉ. शंकर लाल मिश्र, जलंधर इत्यादि।

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद वि. वि. के अपने सभी सहयोगियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूंगा, जिनके सहयोग ने हमारा उत्साहवर्द्धन किया है।
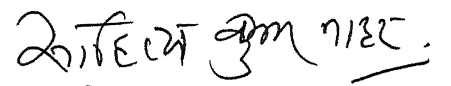
अपनी जीवन संगिनी श्रीमती लता नाहर के प्रति भी आभार प्रकट करना चाहूंगा, जिन्होंने घरेलू दायित्वों के निर्वहन के साथ-साथ अपने अमूल्य सहयोग से मुझे उत्प्रेरित किया है।

अपने अनुज श्री संतोष नाहर, प्रख्यात वायलिन वादक एवं कार्यक्रम अधिशासी ﴾संगीत﴿ आकाशवाणी, इलाहाबाद, सुपुत्री कु. शिल्पी नाहर, सुपुत्र चि. शोभित नाहर एवं शिष्याओं कु. निशा पाठक, व कु. प्रमिति चौधरी के प्रति भी स्नेहिल आभार एवं धन्यवाद प्रकट करूंगा, जिनका सहयोग, इस शोध कार्य में, समय-समय पर मुझे प्राप्त हुआ है।

इस शोध प्रबन्ध के शुद्ध एवं व्यवस्थित टंकण के लिये युवा, कर्मठ व सुयोग्य टंकक श्री प्रमोद अग्रवाल के प्रति भी आभार प्रकट करूंगा, जिन्होंने हार्दिक रूचि लेकर यह कार्य पूर्ण किया है।

अन्त में, उन सभी सहयोगियों, गुरूजनों एवं विद्वानजनों के प्रति हृदय से कृतज्ञता एवं आभार प्रकट करना चाहूंगा, जिनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग से इस कार्य को पूर्ण करने में मुझे प्रेरणा एवं दिशा मिली है। फलस्वरूप गुरूजनों एवं ईश्वर के श्रीचरणों में श्रद्धापूर्वक नमन करते हुये अपना यह अकिंचन प्रयास शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

साहित्य कुमार नाहर

दिनांक : 31.01.2000. ﴾साहित्य कुमार नाहर﴿

X

रागमाला चित्र विवरण

पृष्ठ

—— , ——

अध्याय - प्रथम

मनोविज्ञान - विषय एवं विकास

अखिल सृष्टि में ईश्वर द्वारा निर्मित यदि कोई सुव्यवस्थित सजीव रचना है तो वह है मानव। सृष्टि निर्माण के बाद मानव ने अपने आविर्भाव के पश्चात् धीरे-धीरे परिवेश से समझौता करते हुये अपने इर्द-गिर्द के समाज-संस्कृति से समन्वित होता हुआ क्रमानुगत विकास की ओर अग्रसर हुआ है। निश्चित ही यह अवस्था वर्षों-वर्षों के विकास का प्रतिफल है। क्योंकि मनुष्य से परिवार, परिवार से समाज, समाज से नगर, राज्य तथा राष्ट्र का संयोजन होता है। मनुष्य किसी भी राष्ट्र या परिवार के लिये सबसे सशक्त साधन माना जाता है, इसे इकाई के रूप में भी समझा जाता है। विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि कोई भी राष्ट्र या समाज, संस्कृति या सभ्यता तब तक उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसमें निहित प्रत्येक मानव को अपने मानसिक विकास का भरपूर अवसर न मिल सके। विकास का यह पहलू मानव में

अन्तर्निहित विशिष्टता के अनुसार ही होना सबसे सार्थक माना जाना चाहिये। क्योंकि उन्हीं विशिष्टताओं के कारण उनकी अलग पहचान स्थापित होती है। यदि मनुष्य को अपने अन्तर्निहित विशिष्टताओं के अनुसार परिवेश में विकास का अवसर मिलता रहे तथा रुचि, लगन और परिश्रम के साथ यह प्रयास किया जाये तो वही निहित शक्तियाँ मनुष्य में विशिष्ट प्रतिभा के रूप में विकसित होती हैं और इसी के आधार पर राष्ट्र अथवा समाज की प्रगति भी निर्भर करती है।

मानसिक विकास के क्रम में मन, अन्तर्मन, पारिवारिक सामाजिक वातावरण के साथ-साथ विधिवत् शिक्षण प्रशिक्षण व्यवस्था की भी नितान्त आवश्यकता होती है। विद्वानों के अनुसार मानव एवं दूसरे अन्य प्राणियों में मूलभूत अन्तर यही है कि मानव को अपने मानसिक विकास हेतु विधिवत् शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जबकि अन्य प्राणियों में यह विकास प्राकृतिक विकास के साथ ही गतिमान रहता है। मानव में सारे शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ-साथ परिवार-समाज की मानसिक अवस्था तथा तत्संबंधी समन्वित योगदान का भी महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि मन-मस्तिष्क का महत्वपूर्ण योगदान है मानव के मानसिक विकास में, क्योंकि मन-मस्तिष्क समस्त शरीर एवं बाह्य क्रिया-कलापों पर नियंत्रण जो रखता है। मन से संबंधित

होने के कारण मनोविज्ञान का महत्व भी बढ़ जाता है तथा प्रायः मानव जीवन के हर पहलू को यह प्रभावित भी करता है, मानव जीवन की संभवतः प्रत्येक क्रिया से यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़ा हुआ भी समझा जाता है। अतएव मनोविज्ञान की परिभाषा शब्द व्युत्पत्ति एवं मनोविज्ञान के बारे में विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख करना प्रथमतः आवश्यक हो जाता है।

मनोविज्ञान : शब्द व्युत्पत्ति

मनोविज्ञान - "Psychology" शब्द यूनानी भाषा के 'Psyche' और 'Logos' शब्दों के योग से बना है। "Psyche" का अर्थ आत्मा से है और "Logos" का संबंध ज्ञान से है। अतः 'Psychology' मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ बनता है आत्मा का ज्ञान या विज्ञान। वैसे भी मनोविज्ञान - (मन + विज्ञान) को मुख्यतः स्पष्ट करता है। मन अर्थात् आत्मा तथा इनके विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करते हुये ज्ञानान्वित करना। महान दार्शनिक अरस्तू मानवीय जीवन में आत्मा का महत्वपूर्ण स्थान मानते थे। यद्यपि वे आत्मा और शरीर के संबंध में पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं कर पाये तथापि यह व्याख्या द्वैत शरीर और मन के द्वैत के रूप में चलता रहा। बाद के विद्वानों ने भी इस संबंध में व्याख्या करने का अप्रतिम प्रयत्न किया। अन्ततः आत्मा शब्द को छोड़ दिया गया

क्योंकि यह अत्यन्त अस्पष्ट सा प्रतीत होने लगा।

मनोविज्ञान का अर्थ मन का विज्ञान अर्थात् मन के अन्दर की अन्तर्भूत प्रेरणा से उत्पन्न भावों का अध्ययन माना गया। क्योंकि हम जो भी कार्य करते हैं, उसके लिये हमें प्रथमतः आन्तरिक प्रेरणा मिलती है और मन सबसे पहले क्रियाशील होता है। ग्रीक के महान दार्शनिकों ने भी मनोविज्ञान को मन का विज्ञान " Science of the Mind " कहा है।

वैसे मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र की वह शाखा है, जिसमें मन और मस्तिष्क की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। 16 वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान को आत्मा का विज्ञान ही कहा जाता था। बाद में वैज्ञानिकों द्वारा इसे मन का विज्ञान कहा जाने लगा।

मनोविज्ञान को विद्वानों ने चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) भी कहा है। विलियम जेम्स ने " Briefer Course in Psychology " में उल्लेख किया है कि "मनोविज्ञान की सर्वोत्तम परिभाषा चेतना की दशाओं के वर्णन और व्याख्या के रूप में दी जा सकती है -

"The definition of Psychology may be given as the description and explanation of states of consciousness as such".[1]

James Sully ने Outlines of Psychology में मनोविज्ञान के विषय में लिखा है कि, "मैं इस प्राचीन धारणा को मानता हूँ कि मनोविज्ञान ... आन्तरिक जगत् के विषयों से संबंधित होने के और स्वयं अपनी पद्धति अथवा यन्त्र अर्थात् अन्तर्दर्शन का प्रयोग करने के रूप में भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञानों से पृथक् किया जाता है।"

"I abide by the old conception that psychology is distinctly markes off from physical or natural sciences as having to do with the phenomenon of the inner world and employing its own method or instrument namely introspection".[2]

---

1 Principles of Psychology, W.M. James, Mac millan, Vol. I, 1980.

2 Outlines of Psychology, James Sully, p. 38.

इसी संदर्भ में यह कथन भी उल्लेखनीय है कि Wilhelm Woudt के अनुसार प्राकृतिक विज्ञानों की विषय वस्तु बाह्य अनुभव के विषय के विरूद्ध मनोविज्ञान को इसकी जांच कराती है, जिसको हम आन्तरिक अनुभव कहते है।

> "Psychology has to investigate that which we call internal experience i.e. our own sensation and feeling, our thought and volition in contradiction to the objects of external experience which form the subject matter of natural science."[1]

मनोविज्ञान के संबंध में प्रारंभ से भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषा दी है और जब कभी नई परिभाषा सामने आई, पुरानी परिभाषा की मान्यता कम होने लगी तथा उसमें कुछ कमी के परिदृश्य में कई बातें उभर कर सामने आने लगी। जैसे- आधुनिक

---

1 Lectures on Human and Animal Psychology By Wilhelm Woudt, Translated by J.E. Creighton and E.B. Titchener, Allen & Unwin (1804), p. I.

मनोविज्ञान चेतन, जैसे किसी विशेष तत्व को न मानकर चेतन प्रक्रियाओं को मानता है। यह संदर्भ चेतना का विज्ञान के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। चेतना शब्द का प्रयोग करने वाले विचारक भी उसके अर्थ के विषय में एकमत नहीं है। चेतना शब्द में पशु तथा मानव व्यवहार नहीं आ पाता। मनोविज्ञान अचेतन (Un Conscious) तथा अर्द्धचेतन या अवचेतन (Sub-Conscious) आदि प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है। चेतना का विज्ञान कहने से सब छूट जाते हैं। केवल विज्ञान मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता है कि मनोविज्ञान कैसा विज्ञान है, विधायक विज्ञान है या नियामक विज्ञान।

वैसे भी मनोविज्ञान को जब हम मन का विज्ञान कहते हैं तो यह बरबस प्रश्न उठता है कि यह शुद्ध विज्ञान है अथवा नहीं क्योंकि विज्ञान में तो सभी बातें Perfect होती हैं।

Psychology is not a perfect Science.

विज्ञान में हर चीज़ का निश्चित नियमित होना तो आवश्यक है जबकि मनोविज्ञान में हर व्यक्ति की अलग-अलग बुद्धि, अलग-अलग मनोभाव होने के कारण वह अलग-अलग ढंग से सोचने-विचारने का कार्य करता है। हर व्यक्ति की मानसिक स्थिति एक जैसी नहीं होती। इसलिये सभी के व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वस्तुतः विज्ञान का अर्थ है सीमित विषय का व्यवस्थित अध्ययन।

जबकि मनोविज्ञान का अलग-अलग अर्थ दिये जाने के कारण इसे विकासशील व गतिशील कहा जाता है। कालांतर में मनोविज्ञान विषय का जिस ढंग से विकास हुआ है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, विशेषकर शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में जिस प्रकार से इसकी महत्ता बढ़ी है, उससे इस विषय की मूलभूत आवश्यकता दृष्टिगोचर होता है।

मनोविज्ञान के संबंध में कुछ विद्वानों के विचारों का उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा -

जी. वुडवर्थ के अनुसार -

मनोविज्ञान वातावरण के अनुसार व्यक्ति के कार्यों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

ई. वाटसन के अनुसार -

मनोविज्ञान व्यवहार का शुद्ध विज्ञान है।

चार्ल्स ई. स्किनर के द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट परिभाषा के अनुसार -

मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति प्राणी की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है। प्रतिक्रियाओं या व्यवहार से तात्पर्य प्राणी की सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं, समायोजन, कार्यों तथा अनुभवों से है।

"Psychology deals with responses to any and every kind of situation that life presents. By responses or behaviour is meant all forms of processes, adjustments, activities and expressions of the organism."[1]

एक अन्य परिभाषा के अनुसार -

"मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है जो वातावरण के समायोजन प्राप्त करने के परिणामस्वरूप होता है।"

---

1 Charles E. Skinner, Educational Psychology, p. 1.

जेम्स ड्रेवर के अनुसार -

"मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है, जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है, जो व्यवहार उस अन्तर्जगत के मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है, जिसे हम मानसिक जगत् कहते हैं।"

इतना ही नहीं मनोविज्ञान की परिसीमा एवं विषय अर्थ के अनुशीलन के संदर्भ में हम गहन अध्ययन की ओर उन्मुख होते हैं तब मन-मस्तिष्क के प्रयोगात्मक परिणाम 'व्यवहार' का उल्लेख सर्वप्रथम आता है। मनोविज्ञान के माध्यम से ही मानव या पशु के व्यवहार का भी अध्ययन मनोविज्ञान की परिभाषा के अन्तर्गत अध्ययन का विषय बन जाता है।

वस्तुतः मनोविज्ञान मानव के व्यवहार का निरीक्षण करता है। क्योंकि मानव का व्यवहार उसके मानसिक स्थिति एवं सामाजिक जीवन पर निर्भर करता है और व्यवहार अन्तर्जगत की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। मनोविज्ञान को जब हम "व्यवहार का विज्ञान" कहते हैं तो इससे यह तात्पर्य समझा जाता है कि यह विद्या विज्ञान की विधियां, मूल्य तथा पहुँच मार्ग का प्रयोग करती है। मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन करता हैं, अतएव यह

शुद्ध विज्ञान तभी माना जा सकता है, जब व्यवहार का अर्थ स्पष्ट हो।

जेम्स ड्रेवर के अनुसार -

"जीवन की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों के प्रति मानव तथा पशु की संपूर्ण प्रतिक्रिया ही व्यवहार है।"

निष्कर्ष यह है कि मनोविज्ञान मानव के व्यवहार का निरीक्षण करता है और यह व्यवहार उसके मानसिक जगत् पर निर्भर करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान एक शुद्ध विज्ञान के रूप में मस्तिष्क का अध्ययन करता है और मस्तिष्क का अध्ययन मानव तथा पशु के व्यवहार समझने के लिये आवश्यक है।

सन् 1912 में वॉटसन के समकालीन मनोवैज्ञानिक मैकडुगल ने कहा है "जीवित वस्तुओं के व्यवहार का विधायक विज्ञान" मनोविज्ञान है।

"Psychology is the Positive Science of behaviour of a living thing."[1]

---

1 भारतीय संगीत और मनोविज्ञान, डॅा० वसुधा कुलकर्णी, पृ. 52.

अब जैसा कि मनोविज्ञान को व्यवहार का विज्ञान - "Science of Behaviour" भी कहा गया है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाटसन ने मनोविज्ञान की जो उचित परिभाषा दी है वह उल्लेखनीय है, क्योंकि उनके अनुसार इस आधार पर एक ऐसा मनोविज्ञान लिखना संभव है, जिसको व्यवहार के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है। इनके अनुसार -

> "It is possible to write a Psychology, to define it is the Science of Behaviour."[1]

वॉटसन के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी मनोविज्ञान को व्यवहार का विज्ञान कहा था। इसमें भी विज्ञान को लेकर काफी भ्रांति रही। साथ ही व्यवहार के प्रति भी विद्वानों में अर्थ के संबंध में भावनायें संकुचित रहीं। क्योंकि व्यवहारवादियों के विचारानुसार व्यवहार किसी उत्तेजना (Stimulus) के प्रति अनुक्रिया (Response) है। वास्तव में व्यवहार में आन्तरिक प्रक्रियायें (Internal Processes) भी शामिल होना आवश्यक माना जाना चाहिये।

विद्वानों ने मनोविज्ञान को मानव प्रकृति का अध्ययन भी

---

1 Behaviour - An Introduction to Comperative Psychology, Watson, J.B., p. 121.

कहा गया है। समकालीन मनोवैज्ञानिक एडविन जी. बोरिंग के अनुसार -

मनोविज्ञान मानव प्रकृति का अध्ययन है।

"Psychology is the study of Human Nature."

किन्तु इसमें यह कठिनाई सामने आई कि मानव-मानव की प्रकृति में व्यापक अन्तर सामने उभर कर के आता है कि मानव प्रकृति क्या है। इस संदर्भ में विलियम मेक्डूगल की यह परिभाषा भी उल्लेखनीय है -

"Psychology is the Positive Science of the behaviour of living things."[1]

इस परिभाषा की सीमा रही कि इसमें सभी जीवित प्राणियों के व्यवहार को शामिल किया गया जबकि वास्तव में मनोविज्ञान केवल विकसित प्राणियों के व्यवहार का अध्ययन करता है।

व्यवहार के इस प्रसंग में वुडवर्थ की परिभाषा को पुनः उद्धृत

---

1 Psychological Psychology - W. Mcdougall, p. 133.

करना प्रासंगिक होगा कि मनोविज्ञान परिवेश विशेष के संबंध में व्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान है, जबकि क्रियाओं के स्थान पर अनुभव तथा व्यवहार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है -

> "Psychology is the science of the activities of the Individual in relation to his environment."

जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, यह वैज्ञानिक जांच से संबंधित है, जिसमें व्यवहार के दृष्टिकोण से वह सब भी शामिल है। क्योंकि मनोविज्ञान व्यवहार का विधायक विज्ञान है -

> "Psychology is the Positive Science of Behaviour."

'मन' [Munn] की व्याख्यानुसार -

> "Psychology, today concern itself with the scientific investigations of behaviour including, from the stand point of behaviour, much of what earlier psy-

chologists dealt with a experience."[1]

मनोविज्ञान के संबंध में अन्य विद्वानों ने भी इस प्रकार परिभाषा दी है -

"मनोविज्ञान एक विज्ञान है। वह वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। वह तथ्यों का अध्ययन करता है। उसके निर्णय तथ्यात्मक होते हैं। वह व्यक्ति को, क्रियाओं से संबंधित तथ्यों का निष्पक्ष अवलोकन, संग्रह, वर्गीकरण, तुलना तथा सामान्यीकरण करता है"।[2]

मानसिक अनुभवों तथा उनकी व्यंगक चेष्टाओं, क्रियाओं अर्थात् व्यवहार के स्वरूपात्मक विज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं।

"मनुष्य के मन के अनुभवों या व्यापारों का उसके व्यवहारों द्वारा वैज्ञानिक रीति से विवेचन करने वाले शास्त्र या विद्या को मनोविज्ञान कहते है"।[3]

---

1 Psychology: The Fundamentals of Human Adjustment, Munn, N.L., p. 23.

2 सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा - डॉ. रामनाथ शर्मा, पृ. 30.

3 मनोविज्ञान की रूपरेखा - प्रो. नित्यानन्द पटेल, पृ. 7.

तात्पर्य यह है कि मनोविज्ञान मन की अवधारणा में मानसिक चेतन, अचेतन तथा अवचेतन सभी प्रकार की क्रियाओं का विवेचन करता है। इसमें यह अध्ययन किया जाता है कि मन-मस्तिष्क किन-किन परिस्थितियों में क्या-क्या व्यवहार करता है और ऐसा व्यवहार क्यों करता है, तथा उनमें किस प्रकार परिवर्तन किया जा सकता है। वस्तुतः यह धारणा हमारी मानसिक क्रियाओं प्रेम, द्वेष, चिन्ता, भय, जिज्ञासा आदि का विश्लेषण करता है और हमारी शारीरिक चेष्टाओं - गाना, बजाना, नाचना, खाना, सोना इत्यादि का भी अध्ययन करता है। वह उद्योग, व्यापार, नौकरियां, मानसिक रोग, असामान्य व्यवहार, साहित्य, कला सभी का अध्ययन करता है, उनके विषय में सामान्य सिद्धान्त निकालता है, तथा सूक्ष्म निष्कर्ष पर भी पहुंचता है।

मनोविज्ञान के संबंध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की विभिन्न अवधारणायें एवं परिभाषा के विभिन्न पहलु पर विचार करने के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान विषय मन, चेतना, व्यवहार, मानव प्रकृति, मानव की मनःस्थिति तथा वातावरण एवं प्रकृति के साथ सामंजस्य के दौरान विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन करता है और भारतीय संगीत के परिपेक्ष में इसका अध्ययन तब और भी आवश्यक हो जाता है जब हम पाते हैं कि हमारा भारतीय संगीत भी सृष्टि के साथ आविर्भावित

होकर हमारे मन-परिवेश-समाज-धर्म-संस्कृति इत्यादि से सीधे जुड़ा हुआ है।

विभिन्न प्रकार की परिभाषाओं का यदि सारांश निकाला जाये तो निम्न तीन परिभाषा या विवरण मनोविज्ञान के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हो जाता है -

"Psychology is the Science of Mind, Science of Consciousness, Science of behaviour and Science of human nature."

"Psychology is defined as the Science of mental activity of organism with the idea that mental activity is virtually the same as behaviour or as adjustment to the environment."

"Psychology plays an important role with the adjustment of an organism to its environment."

मनोविज्ञान के संबंध में उद्भव से लेकर विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से इस विषय के प्रति एक सम्यक् विचार तो बनता ही है कि मन-मस्तिष्क-व्यवहार समाज-संस्कृति से जुड़ा यह विषय हमारे क्रियाशील तत्व को किस प्रकार प्रभावित करते हैं तथा हमारे प्रतिदिन की विभिन्न क्रियाओं के साथ आबद्ध हैं।

मनोविज्ञान का विकास

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का क्रम संभवतः मनोविज्ञान के विकास का मुख्य आधार स्तम्भ माना जा सकता है, क्योंकि यह विषय मानव मन-मस्तिष्क से सीधा संबंध रखता है तथा मानव के व्यवहार पर पूर्णतः आधारित है। मनोविज्ञान के विकास क्रम पर एक दृष्टिपात करना यहां प्रासंगिक ही होगा, जिस क्रम में सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इसाकोन एवं मैक्स (Issacon and Max)[1] द्वारा ऐतिहासिक दृष्टिकोण मुख्य आधार के रूप में विशेष उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार मनोविज्ञान की विकास का आधार चार विभिन्न धाराएं हैं, जो इस प्रकार हैं -

---

1 Psychology, The Science of Behaviour, Issacon and Max Hutt, 1971.

1. दर्शन शास्त्र
2. दैहिकी
3. शयनिक अध्ययन
4. मानसिक परीक्षण

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

1. दर्शन शास्त्र (Philosophy) -

विश्व में सबसे प्रथम अवधारणा, मनोविज्ञान के संबंध में महान दार्शनिकों ने ही दी है, जिनमें प्लेटो, अरस्तु तथा अन्य यूनानी दार्शनिक और हिन्दू, बौद्ध तथा कनफूसियस सम्प्रदाय के चीनियों ने मनोविज्ञान संबंधी विचारधारायें सामने रखीं।

बाद में मनोविज्ञान को दर्शन शास्त्र से अलग विषय के रूप में स्थापित करने का श्रेय अमरीका के विलियम जेम्स (1842-1910) को जाता है जिन्होंने "मनोविज्ञान के सिद्धान्त" (Principles of Psychology) नामक पुस्तक विश्व को प्रदान की, जो मनोविज्ञान की आधारभूत पुस्तक मानी जाती है।

2. दैहिकी (Physiology) -

दैहिकी का विकास आधुनिक मनोविज्ञान के विकास का

आधार है। दैहिक विज्ञान में मस्तिष्क, इसके संवेगात्मक संस्थान तथा व्यवहार के शरीरीय आधार का अध्ययन किया है। इस प्रकार के अध्ययन ने व्यवहार के विज्ञान का विकास किया है, जिसे हम मनोविज्ञान कहते हैं।

इस संबंध में निम्न मनोवैज्ञानिकों के कार्यों का उल्लेख महत्वपूर्ण है। पवलव (Pavlov 1849-1936) के शरीरीय प्रयोगों ने सीखने की प्रक्रिया के विकास को समझने में सहायता पहुँचाई। हरमॉन वोन हेल्महोल्ट्ज (Herman Von Helmholtz 1821-1894) ने जो अध्ययन आँख और कान पर तथा रंग प्रत्यक्षीकरण पर किये, वे मानव प्रत्यक्षीकरण को समझने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुये हैं।

इतना ही नहीं विलहेम वुन्ट (Wilhelm Wundt 1832-1920) ने सबसे प्रथम एक मनोविज्ञान प्रयोगशाला स्थापित की तथा प्रायोगिक मनोविज्ञान की शाखा को जन्म दिया। एक अन्य दैहिकी विशेषज्ञ फेचनर (Fetchner 1831-1887) ने भी मनोविज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

3. <u>शयनिक अध्ययन</u> (Clinical studies) -

इस प्रकार के अध्ययन ने मानसिक रोगियों के उपचार की

विधियों को खोज करने के सिलसिले में एक स्वतंत्र विषय के रूप में मनोविज्ञान के विकास में भरपूर सहयोग किया है। फ्रायड ‡Freud‡ महोदय ने मानसिक रोगियों के उपचार एवं व्यक्तित्व के संबंध में नये सिद्धांत का विकास किया है जिन्हें मनोविश्लेषण ‡ Psycho-Analysis ‡ कहा गया है, जिसने मनोविज्ञान-व्यवहार के विज्ञान को नई दिशा प्रदान की है।

4. मानसिक परीक्षण ‡ Mental Testing ‡ -

मनोविज्ञान के ऐतिहासिक आधार स्तंभ की चौथी शिला फ्रांस से प्राप्त होती है। फ्रांस के विख्यात विद्वान एल्फ्रेड बिने ‡ Alfred Binet 1857-1911 ‡ ने एक मानकीकृत विधि मानसिक परीक्षण विकसित की। यह एक परीक्षण आन्दोलन का आरंभ था जो संपूर्ण संसार में धीरे-धीरे प्रचारित होता गया। इस आन्दोलन ने बुद्धि तथा मानसिक योग्यताओं सदृश मनोविज्ञान के प्रत्ययों के विकास में काफी योगदान प्रदान किया।

मनोविज्ञान विषय से संदर्भित उपर्युक्त चार आधार स्तंभों ने जिस ढंग से अपने विकास क्रम के साथ-साथ मनोविज्ञान के विकास को आधार प्रदान किया है, यह संभवतः उसी का प्रतिफल है कि आज अखिल विश्व में मनोविज्ञान विषय की महत्ता स्थापित हो चुकी है और भारतीय संगीत विशेष के प्रायः प्रत्येक पहलु को

मनोविज्ञान न केवल प्रभावित करता है, बल्कि यह कहना समीचीन ही होगा कि संगीत के हर पहलु में मनोविज्ञान मानो एक सहभागी के रूप में शामिल भी है।

मनोविज्ञान एवं कला

जैसा कि मनोविज्ञान की परिभाषा से उभरकर यह तथ्य आया है कि मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मन की चेतना और अचेतन क्रियाओं का निरीक्षण करके अपरोक्ष अनुभूति द्वारा मनुष्य की बाह्य क्रियाओं का अध्ययन करता है। वैसे तो यह स्थापित तथ्य है कि मनोविज्ञान का संबंध जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलु से है तथापि मनोविज्ञान का संबंध कला और विशेषकर संगीत से बहुत निकट का माना जाता है। विद्वानों ने भी कहा है कि जिन शास्त्रों और कलाओं के साथ मनोविज्ञान का संबंध है, उसमें से एक प्रमुख संगीत कला है।

प्रथमतः यदि कला से संबंध पर हम दृष्टिपात करें तो यह पाते हैं कि चूंकि कला का सीधा संबंध मन से है, हृदय ही कला का उद्गम स्थल है और मनोविज्ञान हृदय एवं मन की विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन करता है। इतना ही नहीं यह मनुष्य की अन्तर्निहित भावनाओं एवं व्यवहार के परिपेक्ष में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। कला भी मन की आन्तरिक भावनाओं का

उदगार होने के कारण मनुष्य की मनः स्थिति एवं मस्तिष्क से संबंधित है।

वस्तुतः कला के संदर्भ में मनोविज्ञान में ऐसी मान्यता है कि प्रतीक विधान के द्वारा सृजनता का आविर्भाव होता है तथा कलाकार या सृजनशील व्यक्ति अपने चेतन और अचेतन मन तथा विषय प्रधान चित्त में एक स्थापित करता है। यही सामंजस्य कला के रूप में मुखरित होता है और मनः स्थिति को प्रदर्शित करता है। वैसे विद्वानों का यह भी मत है कि ललित कलाओं की जैसी व्याख्या संगीत-साहित्य में हुई है वैसी मनोविज्ञान में नहीं। तथापि मानव व्यवहार के विश्लेषण के संबंध में मनोविज्ञान एवं कला एवं विशेषकर ललित कला के संबंधों को स्थापित करने के अनेक आधार प्राप्त होते हैं।

कला की उत्पत्ति के संदर्भ में जिस प्रकार मन मस्तिष्क संबंधित है, उसका आधार प्रतीक है, जो अचेतन मन की दोनों अवस्थाओं, व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन, से संबंधित है।

मनोवैज्ञानिक लेविट के अनुसार -

"Art, he tells us, is a substitute gratification and as such is an illusion in

contrast to reality unlike most illusions. However, art is almost always harmless and beneficient for the reasons that it doesn't seek to be anything but an illusion ... oneof its chief function is to serve as Neurotic. It shares the characteristics dream, whose element of distortion of rude calls a sort of inner dishonesty. As for the artist, he is vertually in the same category with neurotic."

- (Readings in Psychoanalytic Psychology)

वस्तुत: कला और मनोविज्ञान का जब भी सामंजस्य स्थापित करने की बात होती है तब कला की कल्पना और मनोविज्ञान की कल्पना को समभाव में स्थापित किया जाता है। क्योंकि कला में कलाकार की कल्पना का अनन्य महत्व है। कल्पना का ही आधार बनाकर कलाकार, अपने कल्पना जाल की उड़ान के बाद पुन: यथार्थ में लौट आता है। फ्रायड के अनुसार -

कलाकार असामान्य व्यक्ति के समान है, असामान्य व्यक्ति नहीं, क्योंकि कलाकार अपने कल्पना जाल से, जिसे वह स्वयं बुनता है, पुनः यथार्थ में लौट आता है।

"The Artist is not like neurotic in that he knows how to find a way back from the world of imagination and once move get a firm foot hold in reality."

चूंकि ललित कला में भी प्रमुख तत्वों की रचना के संबंध में कल्पना से ही सीधा संबंध माना जाता है जो कलाकार की सृजनशक्ति है, जिसे अंग्रेजी में इमैजीनेशन ‌। Imagination । कहते हैं।

चूंकि जीव वैज्ञानिकों और शरीर शास्त्रियों ने भी कल्पना को मस्तिष्क से ही संबद्ध माना है। कल्पना, मानसिक अनुभूतियों की वह सर्वोपरि सतह है, जो ऐन्द्रिय अनुभूति, मानसिक बिम्ब, स्मृति और मनोविभ्रम की अनेक निम्नवर्तिनी सतहों पर निर्भर रहती है। अतः मस्तिष्क की क्रिया से संबद्ध होने के कारण कल्पना का अनिवार्य संबंध मानव मस्तिष्क से होता है, जहां से सारी क्रियाओं का संचालन होता है।

इन्हीं कल्पना एवं सृजनशीलता के आधार पर मनोविज्ञान

और कला का आपसी संबंध स्थापित किया जाता है तथा संगीत, कला एवं ललित कला का प्रमुख अंग होने के कारण संगीत के संदर्भ में अनेकों तत्व हैं, जो मनोविज्ञान के सिद्धांतों से पूरी तरह आच्छादित हैं।

मनोविज्ञान एवं संगीत

संगीत ऐसी ललित कला है, जो अपने सूक्ष्म अवयवों के माध्यम से पांचों ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। वास्तव में जितनी भी कलायें हैं सबके द्वारा अलौकिक आनन्द की सृष्टि होती है। रसानुभूति हर एक ललित कला का गुण है। संगीत को भी ललित कला मानते हुये इसे मन को शान्ति देने वाली, आनन्द एवं प्रेरणा प्रदान करने वाली उच्च कोटि की कला की संज्ञा दी गई है। यह जीवन की प्राणदायिनी गंगा है, ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाली ब्रह्म सहोदर है। संगीत एक ईश्वरीय देन है। किसी विद्वान ने कहा भी है -

> "Music is a beautiful and precious gift of God."

संगीत की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वर व लय है, जिनका कोई

सांसारिक वस्तु से किसी प्रकार का भौतिक संबंध नही है। यह मुख्यतः नाद के रूप में व्यक्त होता है जिसे "नाद-ब्रह्म" भी कहा जाता है। यह ईश्वर का रूप माना जाता है।

संगीत के संबंध में यह धारणा, सृष्टि के आविर्भाव के समय से ही है। विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने प्रथमतः सर्वोत्तम आनन्दानुभूति प्रदान कराने वाले नाद ब्रह्म की रचना की, तब जाकर सृष्टि की रचना आरंभ की। उसी समय से सृष्टि के विकास के साथ-साथ संगीत का भी क्रमानुगत विकास हुआ है तथा यह समाज के साथ-साथ संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में मानव के विकास गति का साक्षी बना हुआ है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक सामाजिक विकास का अंग संगीत ने मानव के हर पहलू को प्रभावित किया है। मानव के अन्तर्मन में प्रस्फुटित मनोभावों को व्यवहारगत प्रस्फुटिकरण के संदर्भ में संगीत के विभिन्न अवयवों ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विकास की एक लम्बी कड़ी सृजित की है। मन-मस्तिष्क से जुड़े होने के कारण इसका संबंध मनोविज्ञान से स्वतः स्थापित होता है। क्योंकि मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मन की चेतना और अचेतन क्रियाओं का निरीक्षण करके अपरोक्ष अनुभूति द्वारा मनुष्य की बाह्य क्रियाओं का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की सहायता से जब हम संगीत का अध्ययन करते हैं तो मनोविज्ञान के कुछ

महत्वपूर्ण पहलू सामने उभर कर आते हैं जो मानवीय व्यवहार के पहलु से सीधे संबद्ध हैं। वे है -

1. ज्ञानात्मक पहलु,
2. क्रियात्मक पहलु, एवं
3. भावनात्मक पहलु।

इन पहलुओं पर विशद् अध्ययन करने के पूर्व ही यह तथ्य परिलक्षित होता है कि जहाँ तक संगीत का संबंध है ज्ञान, क्रियात्मक प्रदर्शन तथा भावनात्मक अभिव्यक्ति ये तीनों ही अपने आप में निकटतम रूप में गुँथे हुये हैं। ज्ञान का होना इस विषय में परमावश्यक है। ज्ञान, तालीम, अभ्यास, लगन व परिश्रम के द्वारा अर्जित किया जा सकता है। यह विधा गुणवता को भी ध्यान में रखता है। ज्ञान यदि है तो निःसन्देह व्यक्ति के स्तर के मापदंड को स्थापित करता है। ज्ञान के साथ ही प्रत्येक मनुष्य के मन में कुछ-न-कुछ भाव अवश्य होते हैं। ये भाव अन्तर्मन में उद्दीप्त विचारों एवं ज्ञान की स्थिरता से प्रभावित रहते हैं। अपने मन के इन भावों को व्यक्त करने के लिये मनुष्य क्रियात्मक पहलू का सहारा लेता है। यह क्रियात्मक प्रदर्शन तभी सफल कही जा सकती है जब मनुष्य अपने ज्ञान और भावना के मणिकांचन संयोग का भरपूर प्रयोग करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानात्मक पहलू, भावनात्मक पहलू के साथ मिलकर जब क्रियात्मक पहलू के माध्यम से

अभिव्यक्त होता है तब संगीत की पूर्णता पूरी तरह उभर कर सामने आती है।

इन्हीं पहलुओं का अध्ययन हमें विशेष रूप में मनोविज्ञान के साथ करना होता है। क्योंकि मनुष्य की मनःस्थिति का ज्ञान उसके व्यवहार से किया जाता है और मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करना, यही मनोविज्ञान का कार्य है। मनोविज्ञान ही व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है।

मनुष्य अपने भावों को प्रकट करने के लिये कोई-न-कोई माध्यम अवश्य ढूंढ़ निकालता है, इसीलिये वह भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है। भावों को व्यक्त करने के लिये कला की आवश्यकता महसूस पड़ती है।

मनोविज्ञान में जब भी अभिव्यक्ति के लिये माध्यम की आवश्यकता महसूस होती है तो उसके अनुसार अपने अनुभवों तथा विचारों को व्यक्त करने के लिये व्यवहार शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार कला में भी व्यक्ति अपनी भावनाओं एवं विचारों को किसी-न-किसी माध्यम से प्रकट करता है। कला में अभिव्यक्ति का प्रयोग किया जाता है जो व्यवहार के सदृश प्रयोग होता माना जाता है। वस्तुतः मनोविज्ञान का व्यवहार एवं संगीत कला की यही अभिव्यक्ति एक दूसरे को समीप ला देती है। चूंकि दोनों ही

मन-मस्तिष्क के अपने विचार, अन्तर्मन की भावनाओं के साथ आचार-व्यवहार के रूप में व्यक्त होते हैं, अतः संगीत एवं मनोविज्ञान दोनों एक दूसरे के समीप माने जाते हैं, आ जाते हैं। वैसे भी मनोविज्ञान में इसी व्यवहार का अध्ययन किया जाता है जबकि कला में जब व्यक्ति अपने भावों व विचारों की अभिव्यक्ति संगीत के माध्यम से करते हैं तब श्रोता व भावों को अभिव्यक्त करने वाला कलाकार दोनों ही आनन्द की सीमा में विचरण करने लगते हैं।

यह सत्य है कि मन, अन्तर्मन की भावनाओं से मूल रूप से आबद्ध हमारा संगीत, मन, व्यवहार के विज्ञान मनोविज्ञान से बहुत हद तक आबद्ध है। हां, यह कहना कि मनोविज्ञान से संगीत जुड़ा है या संगीत से मनोविज्ञान, यह कठिन है। वैसे भी गहन अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि मनोविज्ञान के कई सिद्धांत, संगीत के व्यवहारिक एवं प्रायोगिक पक्ष के साथ काफी सामंजस्य रखते हैं। इस अध्ययन के लिये कुछ विशेष तत्व का विवरण प्रस्तुत करना अपेक्षित होगा।

मन एवं संगीत

मन, मस्तिष्क, मानसिक स्थिति, आत्मा ... ये कुछ ऐसे शब्द हैं जो भावना से जुड़े तो संगीत की ओर उन्मुख होते हैं, और विज्ञान से जुड़े तो मनोविज्ञान की ओर। संगीत से मन का गहरा सम्बन्ध है

जो भावनात्मक पहलु में होता है। क्योंकि संगीत व आत्मा का सम्बन्ध है और संगीत में वह आध्यात्मिक शक्ति है, जो आत्मा की उन्नति के लिये सघन बनती है। इस शक्ति को, संवेदना को हमारे ज्ञानेन्द्रिय ग्रहण करते हैं, जो अनुभव के माध्यम हमारे मन पर प्रभाव करती हैं। मन, वह है, जो बुद्धि व शरीर पर पकड़ बनाये रखती है। क्योंकि मन का अस्तित्व मनोवैज्ञानिक है, शारीरिक नहीं। उस पराभवी मन को चिन्ताओं से मुक्त करने का तथा शान्ति व उत्साह दिलाने का कार्य संगीत करता है।

> "The Existence of Mind is Psychological rather than Physical."
>
> "Music is not only pleasing but it is inspiring also."[1]

संगीत के प्रस्तुतिकरण में भी मन का बहुत योगदान है। संगीत में अद्वितीय शक्ति है, जिसमें सौंदर्यनिर्मित होता है, वह मन के बगैर नहीं आ सकती। मन के सहारे ही बुद्धि, ज्ञान अनुभव, तालीम, व अभ्यास की पगडंडी पर चलकर संगीत के क्रियात्मकता का प्रदर्शन

---

1 भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान : डॉ० वसुधा कुलकर्णी, पृ. 74.

करते हैं। क्योंकि मन को केन्द्रित करने की शक्ति संगीत में है।

संगीत व मनुष्य के भावात्मक पहलु का जो संबंध है वही संगीत का मन के संबंध में आता है। मानव जीवन में आत्मा-शरीर के बीच मन की एक सशक्त भूमिका है। मानव जीवन का यह एक पहलु भी है। जिस आधार पर इसका संबंध स्थापित किया जा सकता है।

मन एक समन्वित दृष्टि है। ऐसा भी कहा जाता है कि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में होता है। संगीत का प्रभाव शरीर के द्वारा मन पर होता है। शरीर का ही वह हिस्सा जो कर्णेन्द्रिय कहलाता है, यह संगीत का प्रथम ग्राह्य अंग है। कान से यह मस्तिष्क में जाते हुये मन-हृदय-आत्मा को प्रभावित करती है। यह अन्य बात है कि किसी कलाकार द्वारा भावातिरेक में प्रस्तुत किया जाने वाली प्रस्तुति कितनी आनन्ददायक है। यह ग्राह्यता बुद्धि पर निर्भर करती है। क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार बुद्धि को अत्यधिक महत्व दिया गया है। ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि चेतन तत्व [मनुष्य] एवं अचेतन तत्व [प्रकृति] के संयोग से जो प्रथम विकास तत्व प्राप्त होती है, वह बुद्धि है। बुद्धि 'बुध', धातु से निर्मित शब्द है जिसका अर्थ है जग जाना या जगना। वैचारिक या आध्यात्मिक अर्थ में इसका तात्पर्य होता है विशिष्ट ज्ञान के

स्तर तक जग जाना। वस्तुतः चेतना के क्रमिक विकास में कई स्तर प्राप्त होते हैं, जिनमें बुद्धि, मन, अहंकार एवं इन्द्रिय प्रमुख हैं। इनमें से बुद्धि का सर्वोपरि स्थान माना जाता है। बुद्धि और मन का अनन्य संबंध है। इसे कहीं-कहीं मन से ऊपर भी माना जाता है। विद्वानों ने कहा है -

"संकल्प विकल्पात्मकम् मनः।"

बुद्धि इन्द्रियों व आत्मा तथा चेतना के बीच की एक कड़ी है जो मन की संवेदनशीलता को नियंत्रित करती है और बुद्धिमत्ता को प्रदर्शित करती है।

मन एवं बुद्धि के विवेक एवं इन्द्रियों की ग्राह्यता के सहयोग से संगीत आनन्द की अनुभूति कराता है। संगीत का प्रभाव शरीर व मन दोनों पर पड़ता है। क्योंकि संगीत में हृदय को स्पर्श करने एवं आनन्द देने की शक्ति है। यहां आनन्द की चरम सीमा है और इसी स्वरानन्द की अवस्था पर दुःख का लेशमात्र भी नहीं होता। यह वस्तुतः मन को केन्द्रित भी करती है। मन से संगीत का जो संबंध है वह एक प्रकार का अनुशासन है। मन को केन्द्रित करके अन्तर्मन में उत्पन्न होने वाले भावों को अपनी चरम सीमा पर पहुंचा कर क्रियात्मक पहलू के माध्यम से आनन्द की अनुभूति कराने में संगीत मन को उद्वेलित करता है। भौतिकशास्त्रियों के अनुसार

शारीरिक व मानसिक क्रियाओं में काफी अन्तर है। क्योंकि शरीर सामान्यतः मन के साथ सुरक्षित रहती है तथापि मन शरीर पर हमेशा आश्रित भी नहीं रहता है। मन शरीर और आत्मा के त्रिकोणात्मक संबंध में मन की निश्चिंतता संगीत के लिये अत्यन्त उपयोगी है और मन का संगीत से अनन्य संबंध को स्थापित करता है।

<u>ध्यान</u> [Attention] -

मन के साथ-साथ संगीत के लिये मन से जुड़ी हुई और एक महत्वपूर्ण अवयव है, वह है ध्यान जिसे अंग्रेजी में Attention कहते हैं। संगीत जैसे प्रयोगात्मक विषय में सीखने, अभ्यास, प्रशिक्षण या प्रदर्शन प्रायः प्रत्येक अवसरों पर मनोवैज्ञानिक तरीके से नियंत्रण करना अनिवार्य है और उसमें ध्यान का अनन्य महत्व है।

ध्यान के संबंध में अनेक वैज्ञानिकों ने अलग-अलग परिभाषा दी है, जिसका तात्पर्य यह है कि ध्यान उस चेष्टा अथवा क्रिया का नाम है, जिसका प्रभाव ज्ञान की प्रक्रियाओं पर पड़ता है। क्योंकि ध्यान एवं लयनात्मक प्रक्रिया होती है। ध्यान अत्यंत ही चंचल प्रक्रिया है जिसपर नियंत्रण साधना से की जा सकती है।

वुडवर्थ के अनुसार -

"Attention is mobile because it is exploratory, it continually something fresh for Examination."[1]

ध्यान ही वह तत्व है, जो संगीत की दृष्टि में मन: चेतना को केन्द्रीयता प्रदान करते हैं। ध्यान की आवश्यकता संगीत में हर पहलु में होती है, जो अभिरूचि के साथ घटती-बढ़ती रहती है। ध्यान से संगीत के भिन्न-भिन्न पहलु में ग्राह्यता में भी असर पड़ता है। इतना ही प्रायोगिक प्रदर्शन, अभ्यास इत्यादि को भी प्रभावित करता है।

ध्यान के लिये कुछेक बाह्य दशाओं का भी वर्णन हमें प्राप्त होता है जिसका संक्षिप्त विवरण यहां अपेक्षित है और जिस पर विचार करने से संगीत के संबंध में कुछ अपेक्षित स्तरोन्नयन प्राप्त किया जा सकता है। ये हैं[2] -

---

1 भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान - डॉ० वसुधा कुलकर्णी, पृ. 111.

2 वही, पृ. 112.

1. स्वरूप -

संगीत में अभ्यास के दौरान संगीत के स्वरूप को ध्यान के माध्यम से केन्द्रित किया जाता है।

2. निश्चित रूप -

ध्यान के माध्यम से राग के निश्चित रूप को हमेशा स्थिर रखा जा सकता है।

3. परिवर्तन -

जिन रागों में बहुत कम अन्तर से राग में अन्तर हो सकता है, उस स्थिति में ध्यान के माध्यम से स्थिरता को बनाये रखा जा सकता है।

4. गति -

गति के माध्यम से ध्यान की महत्ता स्पष्ट होती है। जैसे द्रुत लय की ओर ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है।

5. नवीनता -

सांगीतिक प्रदर्शन हमेशा ध्यान आकृष्ट कराता है। तथापि

ध्यान के माध्यम से नवीनता जो संगीत की गान कही जाती है, इसे ध्यान के द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।

इसी प्रकार विषमता तथा रहस्यमयता भी ध्यान के द्वारा आकर्षित होते है।

यह तो स्पष्ट ही है संगीत में ध्यान का अनन्य महत्व है। ध्यान के मनोवैज्ञानिक पहलु को जब संगीत की दृष्टि से देखा-परखा जाता है तब इस संबंध में कई तथ्य सामने आते हैं, जिनमें ध्यान के प्रकार, ध्यान के गुण-धर्म ध्यान की स्थितियां (आन्तरिक एवं बाह्य) इत्यादि कुछ ऐसे तथ्य उभर कर आते हैं, जो अपने नियम व सिद्धांतों के आधार पर मनोवैज्ञानिक आवरण में रहते हुये भी संगीत की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जिनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रासंगिक ही होगा।

<u>ध्यान के प्रकार</u> (Kinds of Attention)

संगीत की दृष्टि से ध्यान तीन प्रकार के होते हैं -

1. ऐच्छिक ध्यान,
2. अनैच्छिक ध्यान,
3. स्वाभाविक ध्यान।

1. ऐच्छिक ध्यान (Voluntary Attention) -

ऐच्छिक ध्यान मनुष्य में अपनी इच्छाओं से प्रेरित होता है जो अपनी इच्छा के अनुकूल उत्तेजना अथवा परिस्थिति पर ध्यान देता है। इस प्रकार के ध्यान में मनुष्य की इच्छा में उसके लक्ष्य तथा प्रयत्न शामिल होते हैं। संभव है इस प्रकार के प्रयत्न में कई प्रकार की बाधायें भी हों तथापि यह आवश्यक है कि हम अत्यधिक प्रयत्नशील रहें तथा अभीष्ट लक्ष्य की ओर ध्यान बना रहे।

2. अनैच्छिक ध्यान (Involuntary Attention) -

मनोविज्ञान की दृष्टि में जब बाह्य उत्तेजनायें अथवा परिस्थितियां मनुष्य को अपनी ओर ध्यान देने को विवश कर देती हैं, चाहे वह इसके लिये तैयार हो अथवा नहीं, तब ऐसे ध्यान को अनैच्छिक ध्यान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अनैच्छिक ध्यान बाह्य उत्तेजनाओं व परिस्थितियों से प्रेरित होता है, न कि व्यक्ति की इच्छाओं, मनोवृत्तियों तथा मानसिक तत्परताओं से। जैसे गायन, वादन के क्रम में शीघ्रता से प्रस्तुत की गईं कई कलात्मक उपादानों की ओर हमारा ध्यान बरबस खिंच जाता है, चाहे वह हमारी मनोवृत्ति के अनुसार हो या नहीं। क्योंकि मनुष्य उन उत्तेजनाओं के प्रभाव से विवश होकर उधर ध्यान देता

है।

3. <u>स्वाभाविक ध्यान</u> { Habitual or Natural Attention } -

मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी अभिरूचियों, पूर्व धारणाओं एवं प्रेरक वृत्तियों की अवस्थाओं में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। और इन अवस्थाओं के आधार पर जो स्वभावगत ध्यान की अवधारणा होती है वे स्वाभाविक ध्यान कहलाते हैं। इस प्रकार का ध्यान, ऐच्छिक व अनैच्छिक के मध्य में स्थित होता है। इस प्रकार के ध्यान में मनुष्य की अभिरूचि { Interest }, पूर्व धारणा { Prejudices } तथा प्रेरक वृत्तियां { Motives } महत्वपूर्ण होती हैं। जिस कारण प्रत्येक मनुष्य में ध्यान देने की बातों में भिन्नता हो जाती है। और स्वाभाविक ध्यान की स्थापना करती है।

वस्तुतः मनोविज्ञान के अनुसार ध्यान तथा संगीत के अनुसार ध्यान की स्थितियां प्रयोगात्मक परिस्थिति अनुसार भिन्न- हो सकती हैं। चूंकि संगीत में मन व चित्त की स्थिरता, निश्चितन्ता एवं एकाग्रता का होना परमावश्यक है अतः ध्यान की तो आवश्यकता होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान की केन्द्रता बनाये रखने हेतु बाह्य तथा आन्तरिक दशायें भी हैं, जो ध्यान की स्थिति को प्रभावित करते हैं, आन्तरिक तत्व तथा

निर्धारक दशाओं के अन्तर्गत अभिरूचि, मौलिक इच्छा, मानसिक तत्परता, लक्ष्य ... इत्यादि अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। साथ ही अतीत अनुभव, संवेग तथा सामाजिक प्रेरणा भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। ये सभी तत्व सांगीतिक दृष्टि से ध्यान एवं ध्यान संबंधी बाह्य-अन्तर्आवश्यकताओं को परिपूरित करने के लिये आवश्यक है।

कल्पना

जब मनोविज्ञान के प्रमुख तत्वों की ओर हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो, कल्पना, जिसे अंग्रेजी में Imagination कहते हैं, की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। चूंकि कल्पना का सीधा सम्बन्ध मानव के मन-मस्तिष्क से है और मनोविज्ञान में भी कल्पना को अत्यन्त महत्व दिया गया है। वस्तुतः कल्पना ही वह तत्व है जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप व्यापार विधान की शक्ति प्राप्त होती है।

विद्वानों ने कल्पना को दो अर्थों में व्यक्त किया है। एक के अनुसार कल्पना वस्तु सन्निकर्ष के सामान्य प्रभावों को सुरक्षित रखती है और दूसरे अर्थ में कल्पना वस्तु सन्निकर्ष के मानसिक प्रभावों से निर्मित बिम्बुओं को संग्रहीत कर उन्हें सहस्त्रों प्रकार के संयोजन

प्रदान करती है।

जीव वैज्ञानिकों और शरीर शास्त्रियों ने भी कल्पना को मस्तिष्क से ही सम्बद्ध माना है। क्योंकि कला और विज्ञान दोनों में ही कल्पना की नितांत आवश्यकता होती है। जिस तरह कल्पना का धनी किंतु बुद्धि का दरिद्र कलाकार प्रथम पंक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता, उसी तरह बुद्धि का समृद्ध किन्तु कल्पना का अकिंचन वैज्ञानिक भी प्रथम कोटि में गिना नहीं जा सकता। इसलिए जिस युग में कल्पना और बुद्धि का समन्वय रहता है, उसी में महान कलाकार या महान वैज्ञानिक को पैदा करने की क्षमता रहती है। कल्पना में अदृश्य को दृश्य बनाने की अद्भुत शक्ति रहती है। कला में कल्पना के विनियोग से अप्रस्तुतों के तथा नूतन वस्तु व्यापार विधानों का निर्माण होता है।

डॉ० कुमार विमल के अनुसार "मनोविज्ञान की कल्पना कला साहित्य की कल्पना से यद्यपि भिन्न होती है तथापि पात्र, स्थान और आसंग गुण निबन्धन की दृष्टि से कला में भी कल्पना का अनन्य महत्व है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कल्पना के मुख्य भेद इस प्रकार हैं -

1. दृष्टि कल्पना, 2. ध्वनि कल्पना, 3. स्पर्श कल्पना,
4. घ्राण कल्पना, 5. क्रिया कल्पना, 6. रस कल्पना।[1]

---

1 सौन्दर्य शास्त्र के तत्व, डॉ० कुमार विमल, पृ. 13.

जॉन सी. इक्लेस के अनुसार कल्पना मानसिक अनुभूतियों की वह सर्वोपरि सतह है, जो एन्द्रिय अनुभूति, मानसिक बिम्ब, स्मृति और मनोविभ्रम की अनेक निम्नवर्तनीय सतह पर निर्भर रहती है। अतः मस्तिष्क की क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण कल्पना का अनिवार्य सम्बन्ध मानव मस्तिष्क से होता है जहाँ से सारी क्रियाओं का संचालन होता है।

कल्पना शक्ति का महत्व विज्ञान व कला दोनों में है। कला के क्षेत्र में तो शास्त्रोक्त सिद्धांतों से परे प्रयोगात्मक पहलू को भी स्थायित्व प्रदान करने के लिए कल्पना का अनन्य महत्व है। जहां तक संगीत कला का महत्व है इसमें कलाकार में कल्पना शक्ति न हो तो सारे शास्त्रोक्त सिद्धांत धरे-के-धरे रह जायेंगे। कलाकार की अपनी भावना और साधन दोनों मिलकर उच्च कला की सृष्टि करते हैं जो कल्पना से ही सम्भव हो पाती है। इतना ही नहीं श्रोता की सरस ग्राह्यता के लिए भी कल्पना आवश्यक है। चूंकि संगीत क्रियात्मक विषय है, अतएव कला की दृष्टि से जो कुछ भी प्रतीक का निर्माण होता है वे भावात्मक होते हैं। इन प्रतीकों को कल्पना सजीव बनाती है तथा जहां कहीं भी कल्पना की श्रेष्ठता सिद्ध होती है वे भावात्मक जीवन का आधार बन जाते हैं।

वास्तव में कलाकार के हृदय को रस से ओत-प्रोत करने की

शक्ति उसकी कल्पना ही है।

डॉ० वसुधा कुलकर्णी के अनुसार - बड़े-बड़े दार्शनिक एवं कलाकार भी संगीत को कल्पनात्मक एवं कलात्मक विधा मानते हैं।

अरस्तु ने कहा है -

"Art is a combination of Imitation and Imagination."

इसी प्रकार हर्बर्ट रीड का कथन है -

"Art is nothing but the good making of something. It may be sound or thing or Image or anything."

कला में कलाकार कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य उत्पन्न करता है, जिसके सौन्दर्य से श्रोता विभिन्न रसों का अनुभव करते हैं। इस रस की सृष्टि कलाकार अपनी शिक्षा व कल्पना से करता है और इस संगीत में वह दिव्य शक्ति है कि मनुष्य एवं पशु भी सुधबुध खो जाते हैं।

भारतीय संगीत की आत्मा राग है। कलाकार इस राग

के द्वारा ही रस निष्पत्ति करता है एवं अपनी कल्पना से नये नये रंग भरता है। यह कल्पना शक्ति संगीतकार की योग्यता, उसका अभ्यास और मस्तिष्क की उपज पर निर्भर करती है। यदि रागोचित स्वरों को संगीतकार विभिन्न रूप से अपनी कल्पना शक्ति से नहीं सजायेगा तो उसके गायन में कोई नवीनता नहीं रहेगी। इसी प्रकार स्वर को कल्पना से सजाते समय कलाकार उसके विभिन्न रूपों की आकांक्षा करता है। कलाकार की कल्पना शक्ति उसके योग्यता अनुसार बढ़ती रहती है व हर बार वह पिछली बार से अधिक रूचिपूर्ण व माधुर्यपूर्ण ढंग से गाता बजाता है।[1]

इतना ही नहीं अध्यात्म का आधार भी कल्पना है। कला तो कल्पना के बिना संभव नहीं हो सकता, यह आधारभूत तथा सर्वमान्य सिद्धांत है। कला का संबंध रागात्मक पहलू से है। कला और कल्पना दोनों एक ही पहलु से संबंधित होने के कारण आपस में घनिष्ट रूप से संबंधित हैं। विद्वानों का कथन सत्य ही है कि हर कल्पना में कला होती है, तथा हर कला में कल्पना का पुट होता है।

कलाकार पहले सौंदर्य व सुख की कल्पना करता है और उसे

---

1 भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, डॉ० वसुधा कुलकर्णी, पृ. 160-161.

वह वास्तविकता में उतारता है। कल्पना शक्ति न हो तो वह जड़ ही रह जायेगा। कल्पना के कारण माध्यम सजीव बनता है। भाव तथा साधन को सजीव बनाने का कार्य कल्पना करती है। अच्छी कला के रसास्वादन के लिये भी कल्पना जरूरी है, क्योंकि वहां कलाकार के भाव श्रोता के भाव से तादात्म्य हो जाते हैं। कला जो है वह कुछ प्रतीक निर्माण करती हैं। कला में जो प्रतीक बनते हैं, वे भावात्मक होते हैं। कल्पना प्रतीकों को सजीव बनाती है। मानव जीवन में हर जगह कल्पना है। कल्पना के बिना मनुष्य रह नहीं सकता। कल्पना शक्ति को हम सीमित कर सकते हैं, परन्तु इसका नाश नहीं हो सकता।

कल्पना में दो शक्तियां हैं -

1. प्रेरक शक्ति
2. नवनिर्मिति की शक्ति।

निश्चित प्रेरणा के साथ-साथ श्रद्धा, प्रेरणा और नवनिर्मिति से कल्पना शक्ति का विकास होता है। कल्पना एक ऐसी शक्ति है, जिसका मानव मन में होना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि की व्याख्यानुसार मन-मस्तिष्क से जुड़े तथ्यों व अवयवों का मानव जीवन में न केवल

उपस्थित रहना आवश्यक है, अपितु उसका उर्वर होना तथा बुद्धिमता के साथ प्रयुक्त होना भी परमावश्यक है। इस हेतु संगीत जैसे प्रायोगिक प्रदर्शन के विषय में मनोविज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के अंतर्गत आने वाले अवयवों का सहयोग, प्रयोग एवं मार्ग-दर्शन आवश्यक है। जो संगीत के प्रदर्शन व अभ्यास स्तर में निःसन्देह वृद्धि कर सकेगा।

अध्याय .

द्वितीय .

अध्याय - द्वितीय

मनोविज्ञान - शिक्षण के संदर्भित आवश्यक तत्व

मनोवैज्ञानिक तत्वों के समन्वित रूप जिस प्रकार संगीत विषय के विभिन्न पहलु में सन्निहत हैं या इनके सतत् प्रकार के साथ बराबर द्रष्टव्य होकर महत्ता को बार-बार सशक्त करते रहते हैं उनमें कुछ अन्य भी महत्वपूर्ण हैं। वे हैं - शिक्षा, सीखना ॥ Learning ॥, व्यक्तित्व, बुद्धि परीक्षण, स्मृति, वंशानुगत प्रभाव इत्यादि। संगीत संबंधी सामाजिक-सांस्कृतिक अनुशीलन के संदर्भ में इन तत्वों के संदर्भ में चर्चा करना तथा विवरण प्रस्तुत करना सर्वथा तर्कसंगत व उपयोगी ही होगा।

शिक्षा व शिक्षा मनोविज्ञान

प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत यह सार्वभौम सत्य है कि मनुष्य एक

सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर विकास क्रम में जैसे ही उसकी चेतना सक्रिय होने लगती है, उसे नई-नई परिस्थितियों से अवगत कराना प्रारंभ होता है,वैसे ही वह अपने को उस परिस्थिति से सफलतापूर्वक अभियोजित करने का प्रयास करता है। यूं तो कहा जाता है कि परिवार में, समाज में मनुष्य हर पल कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। यहां पर भी सत्य है इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के क्रम में यह कहा जाता है - एक विधिवत् शिक्षा ग्रहण करना जबकि दूसरा स्वतः। मनुष्य परिवार में रहता है। जहां सबसे निकट अपने माता-पिता के साथ रहने से प्रथमतः तो वह अपने मां से सीखता है, तत्पश्चात् अन्य परिजनों से। इस संदर्भ में शिक्षा का अनन्य महत्व परिलक्षित होता है। क्योंकि शिक्षा की आवश्यकता मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के लिये परमावश्यक भी है।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में प्राचीन काल से ही शिक्षा का अनन्य महत्व स्थापित किया गया है। भारतीय संस्कृति व साहित्य के उपलब्ध कई ग्रन्थों तथा धार्मिक महाकाव्यों में इसके अनेक उपख्यान प्राप्त होते हैं। ग्रन्थों में कहा गया है -

"शिक्ष्यते उपदिश्यते यत्र सा शिक्षा।"

जिस माध्यम या प्रणाली के द्वारा उपदेश दिया जाता है वही

शिक्षा है।[1]

संस्कृत साहित्य में प्राप्त साक्ष्य के अनुसार शिक्षा के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण आर्यों के उर्वर मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही स्फुरित हुआ। वैदिक काल में ऋचाओं के शुद्ध उच्चारण का अनन्य महत्व था। जिस कारण वर्ण तथा स्वरों का उच्चारण भी शिक्षा के अन्तर्गत आता था।

सायण के अनुसार -

"वर्णस्वराद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते,
उपदिश्यते सा शिक्षा।।"

- जिस माध्यम से वर्ण एवं स्वरों के शुद्ध उच्चारण से संदर्भित उपदेश दिया जाये वही शिक्षा है।

विद्वानों ने यह भी कहा है कि शिक्षा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का अन्यतम साधन है, उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का सोपान है।

---

1 भारतीय संगीत का इतिहास, डॅा० श. श्री. परांजपे, वाराणसी, पृ. 128.

'शिक्षा अन्तर्निहित शक्तियों को उभारकर उन्हें पूर्ण विकसित करती है। यह वह ज्ञान है, जो मनुष्य के आन्तरिक गुणों को जगमगा देता है, जिसके प्रकाश में वह स्वयं अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है और समाज को भी लाभ पहुंचाता है'।[1]

शिक्षा के संदर्भ में, जहां एक ओर प्राचीन काल में मानव मस्तिष्क को ज्ञान से भर देना मात्र उद्देश्य था जो ऐहिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ परलोक सुधारने तथा मुक्ति दायक मार्ग को प्रशस्त भी करता था, वहीं दूसरी ओर आधुनिक काल में शिक्षा का उद्देश्य मानव की प्रत्येक अवस्था में अभिवर्द्धन एवं विकास करना है। यह मानव के वर्तमान का निर्माण करता है तथा उन्हें समाज के विभिन्न अवस्थाओं में रहने योग्य बनाता है। डॉ० माथुर के अनुसार -

"शिक्षा वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो विविध सामाजिक वर्गों के सदस्यों को आजीवन उन वर्गों में रहने के योग्य बनाने के लिये उत्तरदायी है।"

---

1 शिक्षा मनोविज्ञान, डॉ० माथुर, आगरा, पृ. 19.

शिक्षा एक निर्देशात्मक, सुप्रयोजन व सृजनात्मक प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को अनुभव प्रदान करती है और उसे वातावरण के विभिन्न अंगों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता पहुंचाती है। यह एक ऐसी क्रिया है, जिसका संबंध व्यक्ति और समाज दोनों से है।

शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति के अन्दर व्यावहारिक परिवर्तन लाये जाते हैं और इन्हीं व्यावहारिक परिवर्तनों के अध्ययन का संबंध मनोविज्ञान की परिधि में आते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि में भी शिक्षा का महत्व है, जो शिक्षा के द्वारा मानव व्यवहार में हो रहे सतत् परिवर्तन का अध्ययन करता है। अतः 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की एक नई धारा इस तरह सामने उभर कर आती है।

शिक्षा-मनोविज्ञान

वस्तुतः शिक्षा मनोविज्ञान मानव व्यवहार के अध्ययन का विषय है, जो प्राप्त शिक्षा के द्वारा मनुष्य में परिलक्षित होता है और इतना ही नहीं यह सामाजिक प्रक्रिया के साथ भी सतत् जुड़ा हुआ है। जहां एक ओर आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का जुड़ाव अत्यधिक है, वहीं इससे शिक्षा मनोविज्ञान की उपयोगिता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। शिक्षा मनोविज्ञान का उद्देश्य छात्रों के व्यक्तित्व का अभिवर्द्धन और संतुलित विकास करना तथा उनमें सदाचार की भावना को विकसित करना है। शिक्षा मनोविज्ञान बदलती हुई

सामाजिक व्यवस्था में कुशल आत्मनिर्देशन की योग्यता वृद्धि तथा विविध सामाजिक कार्यों में भेद, बुद्धि की वृद्धि के द्वारा व्यक्तित्व का अभिवर्द्धन और उसका संतुलित विकास करना तथा मानव स्वभाव को समझने में मदद करता है।

यह तो निर्धारित तथ्य है कि जब मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष में शिक्षा के तत्वों व विधियों को हम देखते-परखते हैं तो वही शिक्षा-मनोविज्ञान की अवधारणा से शिक्षा में एक अहम परिवर्तन की संभावनायें भी हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान भी अन्य धाराओं की तरह अपनी सीमाओं एवं उद्देश्यों के अन्तर्गत कार्य करती है, जहां यदि अध्यापक या गुरू, विधार्थी की रूचि, मनोवृत्ति, क्षमता, लगन, अभ्यास एवं अनुभव के परिदृश्य में शिक्षा-दीक्षा की क्रिया जारी रखते हैं तो प्रगति में यह विशेष सहायक सिद्ध होती है। इस माध्यम से शिक्षण की प्रकृति का निर्धारण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

<u>सीखना</u> ❨learning❩ -

शिक्षा के माध्यम से जब मनुष्य के पूर्व व्यवहार एवं अनुभूति में जो परिवर्तन आता है, वह सीखना कहलाता है।

"मनुष्य व्यवहार के प्रगतिशील परिवर्तन को सीखना कहते हैं।"

<u>प्लेटो के अनुसार</u> -

"Man is never old to learn."

<u>गिलफोर्ड के अनुसार</u> -

"We may define learning very broadly in saying that learning is a change in behaviour resulting from behaviour."

अर्थात् - "सीखना, व्यवहार के परिणामस्वरूप व्यवहार में कोई परिवर्तन है।"

<u>एक अन्य परिभाषानुसार</u> -

"learning is change in behaviour as a result of Experience."

"सीखना अनुभव के परिणामस्वरूप व्यवहार में परिवर्तन करना है।"

वस्तुतः शिक्षा व सीखना दोनों एक होते हुये भी प्राकृतिक स्वतः प्रक्रिया की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर निर्भर करती है। कभी तो विधिवत् शिक्षा प्रदान किये जाने के बाद भी यह उस बौद्धिक विकास स्तर तक नहीं पहुँच पाता है, जबकि कभी-कभी मनुष्य बिना विधि-वत् शिक्षा या सीखने के भी बौद्धिक स्तर के मामले में कहीं स्तरीय परिवर्तन के साथ परिलक्षित होता है।

यदि शिक्षा व सीखने की साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों को संगीत की दृष्टि में लिया जाये तो निःसंदेह रूचि, लगन, बुद्धिमत्ता, ग्राह्यता इत्यादि तत्व भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साथ ही एक तत्व और भी उभर कर सामने आता है वह है, प्रेरणा। वस्तुतः सीखने में प्रेरणा का भी प्रमुख हाथ है। प्रेरणा मानव को क्रियाशील तो बनाती ही है साथ ही उसे एक निश्चित दिशा की ओर भी ले जाती है। और यह क्रिया उसके मानसिक संतोष की अवस्था तक सतत् क्रियाशील भी रहती है।

'सीखना' या learning की भी विशद व्याख्या मनोविज्ञान के अन्तर्गत की गई है। तथापि संगीत की दृष्टि में उन मनोवैज्ञानिक कारकों का अध्ययन करना तथा उनका विवरण देना संभवतः युक्ति

संगत ही होगा। सीखने की प्रक्रिया के संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने निम्न कारकों का वर्णन किया है, जो सीखने की प्रक्रिया की सक्रियता या निष्क्रियता को प्रभावित करते हैं। वे कारक निम्न हैं -

1. मनोवैज्ञानिक
2. शारीरिक
3. भौतिक, एवं
4. सामाजिक।

इन सभी कारकों का अपना-अपना महत्व है।

1. <u>मनोवैज्ञानिक कारक</u> -

इसके अन्तर्गत वे तत्व आते हैं, जो समाज में मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहारगत उभर कर सामने आता है। यदि संगीत की दृष्टि से हम इसे लें तो यह पाते हैं कि समाज में किसी मनुष्य को किस प्रकार सामान्य अवस्था में सुगमता से बिना किसी भेद-भाव के सीखने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है। फिर इसके अन्तर्गत विशेषकर संगीत सीखने के क्रम में उसे उन मनोवैज्ञानिक तत्वों के संदर्भित कितनी सहुलियत प्राप्त हो रही है। मनोवैज्ञानिक कारक के अन्तर्गत जो तत्व सन्निहित हैं, वे हैं - सामान्यीकरण, सुगमता, भेदीकरण, निरोध तथा प्रत्याशा।

2. शारीरिक कारक -

चूंकि सीखना केवल मनोवैज्ञानिक अथवा शैक्षिक प्रक्रिया न होकर मनोशारीरिक प्रक्रिया भी है, अतः शारीरिक कारक भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कहते हैं "स्वस्थ शरीर तो स्वस्थ मन" या "स्वस्थ मन तो स्वस्थ शरीर"। तात्पर्य यह है कि जीवन की क्रियाशीलता बनाये रखने हेतु शरीर का स्वस्थ होना परमावश्यक है और साथ ही किसी भी विधा के सीखने की प्रक्रिया में शरीर के कारकों का भी अनन्य महत्व है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के बाद इस कारक के अन्तर्गत निम्न अवयव आते हैं -

(क) थकान,
(ख) औषधियां तथा नशीली वस्तुयें,
(ग) रोग,
(घ) उत्तेजित शारीरिक अवस्था,
(च) लिंग भेद, तथा
(छ) आयु परिपक्वता का भेद।

3. भौतिक कारक -

सीखने की प्रक्रिया में भौतिक कारक भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह क्रिया भौतिक परिवेश में ही चलाती रहती है और भौतिक परिवेश के अनुसार वातावरण तथा भौतिक सुविधाओं के अनुसार सीखने

की प्रक्रिया को बहुत हद तक प्रभावित करती है।

4. सामाजिक कारक -

मनुष्य समाज में ही रहकर सभी कार्य करता है। पहले जब विद्यार्थी गुरूकुल में जाकर गुरू के घर वर्षों-वर्षों रहकर विद्या अध्ययन करते थे, ज्ञान सीखते थे, तो वहाँ भी एक समाज की परिकल्पना हो जाती थी। आज बदले हुये परिवेश में परिवार और समाज की उपादेयता तो बढ़ गई ही है। तो निःसन्देह मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष से निर्धारित सामाजिक कारक भी संगीत सीखने की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। वे हैं -

(क) अनुकरण - संगीत में अनुकरण का अनन्य महत्व है। इसे तो गुरूमुखी विद्या भी कहा जाता है। गुरू के द्वारा उच्चारित तत्वों को शिष्य द्वारा अनुकरण के माध्यम से सीखने की तो एक प्राचीन और सशक्त परंपरा है।

(ख) संकेत - संकेत से तात्पर्य अच्छा भविष्य, प्रतिभा इत्यादि से है। अच्छा संकेत होने से सीखना भी अच्छा होगा।

(ग) सहानुभूति - किसी भी विद्या के सीखने में प्रोत्साहन

व सहानुभूति की नितान्त आवश्यकता होती है। परिवार के लोग, समाज के लोग तथा व्यवसाय के लोगों की सहानुभूति एवं प्रोत्साहन हो तो सीखने की प्रक्रिया अच्छी हो सकती है।

(घ) प्रशंसा व निंदा - सीखने की क्रिया को ये दोनों तत्व प्रभावित करते हैं। प्रशंसा से जहाँ एक ओर प्रोत्साहन मिलता है वहीं निंदा की स्वस्थ स्थिति से अपनी कमी को सुधारने एवं गलतियों को दुरुस्त करने का अवसर भी प्राप्त होता है।

(च) प्रतिस्पर्धा - कहते हैं कि प्रतिस्पर्धा से क्रिया को गति मिलती है। सीखने की क्रिया में प्रतिस्पर्धा से जहां कई विद्यार्थी एक साथ शिक्षा ग्रहण कर रहे हों, या सुन-देख कर भी, इससे गति आती है। एक होड़ सी लग जाती है एक दूसरे से आगे बढ़ने की। अतः यह कारक सीखने की प्रक्रिया में उपयोगी ही है, वरन् कि प्रतिस्पर्धा में ईर्ष्या-द्वेष का समावेश न हो सके।

(छ) सहयोग - सीखने की क्रिया में सहयोग की भी नितान्त आवश्यकता होती है। सहयोग चाहे परिवार समाज की हो या सीखने वाले या सिखाने वाले के मध्य। तात्पर्य यह है कि गुरू-शिष्य के बीच पारस्परिक सहयोग सीखने की क्रिया

की आधारभूत नींव है। साथ ही कलाकार के संबंध में श्रोता का सहयोग अपेक्षित माना जाता है।

इस प्रकार देखा जाता है कि सीखने की प्रक्रिया इतनी व्यवस्थित है। यूं तो प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत स्वाभाविक तौर पर यह देखा जाता है कि मनुष्य बाल्यकाल से ही अपने परिवेश के अनुसार, संस्कारगत वातावरण में देख-सीख-सुनकर सीखता रहता है। किन्तु जब विधिवत् शिक्षा-दीक्षा का समय आता है तब वह गुरू या विद्यालय के सामीप्य में जाता है तथा मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष के अनुसार सीखने की क्रिया आरंभ होती है, जो उसके ज्ञानात्मक पहलु को सशक्त बनाती है तथा समाज में उसकी स्थिति को व्यवस्थित एवं निर्धारित भी करती है।

सीखना, जिसे अंग्रेजी में *learning* कहते हैं, संबंधी कारकों के अतिरिक्त मनोविज्ञान के अनुसार सीखने की भिन्न-भिन्न विधियां भी विद्वानों ने प्रतिपादित की हैं। यद्पि उन विधियों की परिभाषा, उद्देश्य, विवरण इत्यादि मनोविज्ञान में विद्वानों ने इस ढंग से प्रतिपादित किये हैं, तथापि संगीत, जो कि गुरू-शिष्य परंपरा के अनुसार रू-ब-रू शिक्षण का विषय है, सुन-देख-समझकर सीखने की आवश्यकता पड़ती है अतः सीखने की भिन्न-भिन्न विधियों को संगीत के परिदृश्य में संक्षिप्त में चर्चित करना आवश्यक होगा।

मनोविज्ञान के अनुसार सीखने की निम्न पांच विधियां निर्धारित की गई हैं -

1. निरीक्षण तथा अनुकरण द्वारा सीखना।
2. प्रयत्न व भूल द्वारा सीखना।
3. सूझ-बूझ से सीखना।
4. अन्तर्दृष्टि से सीखना।
5. संबंद्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना।

1. निरीक्षण तथा अनुकरण द्वारा सीखना -

इस विधि के अन्तर्गत मोटे तौर पर यह क्रिया आती है कि किसी के द्वारा संपादित की जाने वाली क्रिया को देखकर वैसी ही क्रिया दुहराई जाये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि में बच्चों से लेकर बड़ों तक के साथ यह विधि क्रिया प्रयोग में लाई जाती है। बच्चों में यह विशेष गुण होता है कि किसी की हु-ब-हु नकल करने का प्रयास। जहां तक संगीत का संबंध है, गुरू द्वारा तालीम दिये जाने के समय उच्चारित पाठ का निरीक्षण कर अनुकरण करते हुये सीखना यह तो प्राचीन काल की परंपरा रही है। इतना ही नहीं वेद ज्ञान, के क्षेत्र में भी यह विधि अपनाई जाती है। वस्तुतः सीखने में अनुकरण बहुत उपयोगी है। विशेष कर संगीत के क्षेत्र में। अनुकरण द्वारा सीखने में भूल की संभावना कम रहती है। यह शिक्षण कार्य को सशक्त भी

करता है तथा ग्राह्यता भी अधिकाधिक प्राप्त होती है। घरानेदार परंपरा में तो कई बार ऐसा भी देखा गया है कि अनुकरण करते-करते शिष्य, अपने गुरू के दोषों का भी अनुकरण कर सीख जाते हैं तथा वैसा ही प्रदर्शन करने लग जाते हैं। तथापि सीखने की इस विधि का संगीत में अनन्य महत्व है जो गुरू शिष्य परंपरा तथा प्रायोगिक प्रदर्शन द्वारा प्रदत्त शिक्षण विधि के लिये सहयोगी व उपयोगी साबित होता है।

2. प्रयत्न व भूल द्वारा सीखना -

इस विधि द्वारा सीखने की प्रक्रिया का प्रतिपादन सबसे पहले सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक "थार्न डाईक" ने किया। इस विधि के अन्तर्गत किसी भी विधा या क्रिया सीखने के लिये बार-बार किये जाने वाले प्रयत्न पर महत्व दिया जाता है। इस प्रकार के प्रयत्नों में भूलों की संभावना रहती है। यदि कुछ क्षण के लिये भूल जाया भी जाये और तब फिर पुनः प्रयत्न किया जाता है तो सीखने की क्रिया तब और सशक्त हो उठती है। थोड़े प्रयत्न करते-करते, भूल करते-करते, इससे सही प्रतिक्रियाओं को दोहराने की आवश्यकता होती है और सही क्रिया ग्रहण हो उठती है।

इस विधि की पुष्टि करने के लिये बाद में भी मनोवैज्ञानिकों

ने अनेक प्रयोग किये हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सीखने की यह विधि 'सफल प्रतिक्रियाओं के चुनाव से सीखना' भी कही जाती है। वस्तुतः सीखना एक प्रगतिशील क्रिया है जिसमें एक सोपान पार कर मनुष्य दूसरे सोपान तक पहुँचता है और इस क्रिया के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। यह सफलता मनुष्य के आत्म विश्वास व उत्साह की वृद्धि करती है और आगे मनुष्य की सीखने की इच्छा को प्रबल बनाती है।

संगीत की दृष्टि में तो यह विधि अत्यन्त ही उपयोगी है। बार-बार अभ्यास करने, प्रयत्न करने से संगीत में पाठ का आत्मसात होना तथा सीखने की क्रिया को मजबूती मिलती है।

3. <u>सूझ-बूझ से सीखना</u> -

इस विधि द्वारा सीखने की व्यवस्था में व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता का महत्व सफलीभूत माना जाता है। क्योंकि कई बातें हैं जो अनुकरण से नहीं सीखी जातीं, उनके बारे में प्रयत्न भी किया जाता वे अपने आप सूझ-बूझ से सीख लिया जाता है। मनोविज्ञान के आधार पर इस सिद्धांत पर काफी काम किया गया है। जिसके अनुसार सूझ-बूझ द्वारा सीखने की इस विधि से यह ज्ञात हुआ है कि इस सिद्धांत में तीन बातें मुख्य रूप से महत्वपूर्ण हैं -

(1) व्यवस्थित अवयवों के अंगों में संबंध देखना।

(2) विचारना।

(3) अनायास हल निकालना।

संगीत संबंधी शिक्षा-दीक्षा में सूझ-बूझ द्वारा सीखने की विधियों में इन अवयवों का महत्व दिखलाई पड़ता है। संगीत कला के प्रस्तुतिकरण में भी सूझ-बूझ के द्वारा कलात्मकता एवं आकर्षण पैदा होता है।

4. अन्तर्दृष्टि से सीखना -

सीखने की उपरोक्त वर्णित विधियों के अतिरिक्त मनुष्य ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा और नैसर्गिक ज्ञान के आधार पर वह बहुत सी बातें अपने आप सीख लेता है। इस विधि में वह अपनी बुद्धि से काम लेता है। गैस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार सीखना अन्तर्दृष्टि अथवा बुद्धि द्वारा भी होता है। इसमें मनुष्य का अपना ध्येय (लक्ष्य) तथा इसके लिये किये जाने वाले प्रयत्नों का विशेष महत्व होता है, जो अन्तर्दृष्टि की प्रखरता से सीखने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस विधि की निम्नलिखित विशेषतायें हैं -

(1) अन्तर्दृष्टि एकाएक होती है।

(2) इससे प्रत्यक्षीकरण में परिवर्तन होता है।

(3) इससे पुरानी चीजें एक नये प्रतिमान या संगठन में दिखाई देने लगती हैं।

(4) इसका संबंध बौद्धिक स्तर से होता है।

(5) इसमें समझदारी का अनन्य महत्व होता है।

(6) इसमें पूर्व अनुभव सहायक होता है।

(7) इस पर आयु का प्रभाव होता है।

(8) किसी विशेष परिस्थितियों में अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्य मौकों पर भी सहायक होता है।

(9) अन्तर्दृष्टि कभी पूर्व दृष्टि होती है, कभी पश्चात् दृष्टि होती है।

5. <u>सम्बद्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना</u> -

सीखने की इस विधि में किसी उत्तेजक का होना आवश्यक है। क्योंकि उत्तेजक की उपस्थिति में मानव सहज क्रियायें करता है, जो सम्बद्ध शिक्षण विधि की महत्ता को प्रदर्शित करता है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पवलोव्ह (Pavlov) नामक वैज्ञानिक ने किया था, जिसके तीन नियम हैं -

(क) यदि असंबद्ध उत्तेजक संबद्ध उत्तेजक से पहले दिया जाये तो कोई संबद्ध प्रतिक्रिया पैदा नहीं होगी।

(ख) यदि संबद्ध उत्तेजक तथा असंबद्ध उत्तेजक साथ-साथ दिये जाते हैं तो सम्बद्ध प्रतिक्रिया हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है।

(ग) यदि सम्बद्ध उत्तेजक, असम्बद्ध उत्तेजक से कुछ पहले दिया जाता है तो सम्बद्ध प्रतिक्रिया जरूर होती है।

संगीत शिक्षण के संदर्भ में उत्तेजक संबंधित, वाद्ययंत्रों को या फिर प्रतिस्पर्धात्मक तथ्यों को सामने लाना माना जा सकता है, जो लक्ष्य बनाकर संगीत साधना करने की स्वत: प्रक्रिया में काफी सहयोग प्रदान करती है।

प्रतिभा एवं व्यक्तित्व

यह कटु सत्य है कि मनुष्य की प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त होती है तथा व्यक्तित्व, संस्कारों के माध्यम से प्रतिबिम्बित होता है। चाहे ज्ञान का क्षेत्र हो या मनोवैज्ञानिक आकलन, प्रतिभा और व्यक्तित्व सामान्य परिदृश्य के आधार पर भी मानव की पहचान स्थापित करते हैं। संगीत की शिक्षा-दीक्षा में तो इसका अनन्य संबंद्ध भी है और महत्व भी। क्योंकि गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धांतों के आधार पर प्रतिभा परिलक्षित होती है और यह मानव मन मस्तिष्क से सीधे-सीधे संबंधित भी है। यह स्थापित तथ्य है कि प्रतिभा ईश्वर

प्रदत्त नैसर्गिक गुण है जबकि प्रतिभा, बुद्धिमत्ता, ज्ञान, व्यवहार इन सब चीजों से मिलकर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रतिभा और व्यक्तित्व दोनों ही मिलकर किसी व्यक्ति के प्रभावोत्पादक चरित्र का निर्माण करते हैं।

आधुनिक सौंदर्यशास्त्र में कल्पना का प्रयोग जिस शास्त्रीय अर्थ में किया जाता है, उसी अर्थ को अभिप्रेत करने के लिये प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने एक शब्द का प्रयोग किया है - वह है 'प्रतिभा'।[1] अंग्रेजी में इसका पर्याय है, 'जिनियस' (Genius)।

प्राचीन आचार्यों से लेकर आधुनिक काल के विद्वानों ने प्रतिभा का संपूर्ण विश्लेषण किया है और इसका अत्यन्त आत्मनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किया है। दण्डी नामक आचार्य ने काव्य हेतु के प्रसंग में प्रतिभा का इस प्रकार उल्लेख किया है -

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।

अमन्दश्चाभियोगोस्याः कारणं काव्य संपदः।।

- काव्यदर्श 1-103

---

1 सौंदर्यशास्त्र के तत्व, डॉ० कुमार विमल, पृ. 142.

प्रतिभा व्यक्ति के हृदय और मस्तिष्क की जन्मजात, वातावरण अर्जित एवं पुर्वार्जित विशेष योग्यता है, जो औसत से श्रेष्ठतर, सामान्य से विलक्षण, मनोदैहिक और वैयक्तिकता के लक्षणों से युक्त है।

प्रसिद्ध विद्वान प्रो० र. कु. मेघ के अनुसार -

"प्रतिभा, हृदय और मस्तिष्क का वह संयुक्त तथा विशिष्ट संस्कारमूलक रूपांतर है, जो व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से पोषित होता हुआ, प्रज्ञा रूप में गतिमान, व्यापार मान तथा आवेशयुक्त होता है। यह प्रज्ञा रूप व्यक्तित्व की असाधारणता, प्रेरणा और कल्पना की अतिशयता तथा निपुणता एवं अनुसंधान की नवीनतादि के प्रकाशन का स्फुरण को आयत्त करता है।"[1]

संगीत विषय में तो प्रतिभा को मुख्य रूप से ईश्वर की देन कहकर संबोधित किया जाता है। वैसे प्रतिभा कुछ हद तक तो जन्मजात होती है और कुछ सीमा तक यह वातावरण की अनुकूलता के आधार

---

1 अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, प्रो० रमेश कुंतल मेघ, पृ. 168.

पर विकसित भी किया जा सकता है। वैसे ये दोनों परिस्थितियां किसी मनुष्य को समान अनुपात में प्राप्त हों तो विषयगत विकास की गति बढ़ जाती है। साथ ही योग्य व विद्वान गुरू, लगन, परिश्रम, अनुकूल परिस्थिति आदि भी कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास में सहायक होती हैं तथा एक प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का निर्माण भी करती है।

व्यक्तित्व ﴾ Personality ﴿ -

व्यक्तित्व शब्द का उद्गम लैटिन भाषा के पर्सनेअर ﴾ Personare ﴿ शब्द से माना जाता है, जिसका तात्पर्य ध्वनि करने के सदृश है। ईसा से एक सदी पूर्व पर्सोना ﴾ Persona ﴿ शब्द, व्यक्ति के कार्यों को स्पष्ट करने के लिये प्रयोग किया जाता था। वर्तमान संदर्भों में 'व्यक्तित्व' शब्द से ऐसे संगठन का बोध होता है, जिसमें बहुत से मानवीय गुण अन्तर्निहित और संगठित होते हैं। व्यक्तित्व से तात्पर्य केवल शारीरिक रचना से ही नहीं होता वरन् अन्य व्यक्तिगत गुणों का समावेश भी इसमें होता है। व्यक्तित्व में वे सभी बातें आती हैं, जिनको लेकर एक व्यक्ति पैदा होता है, जिनको वातावरण अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करता है और जो व्यक्ति के प्रत्येक क्रिया में झलकती है। व्यक्तित्व के संबंध में कुछ विद्वानों के विचार उद्धृत करना प्रासंगिक होगा -

"व्यक्तित्व मानवीय व्यवहार का प्रतिमान है, जो किसी परिस्थिति विशेष के प्रत्युत्तर में किये जाते हैं, जो परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं तथा जिसका उस परिस्थिति विशेष से अलग कोई अस्तित्व नहीं होता।"

मनोवैज्ञानिक एच. सी. वारेन (H.C. Warren) के अनुसार -

"व्यक्तित्व व्यक्ति का संपूर्ण मानसिक संगठन है जो उसके विकास की किसी भी अवस्था से होता है।"[1]

"Personality is the entire mental organisation of human being at any stage of his development."

रेक्स रॉक (Rex Rock) के अनुसार -

"व्यक्तित्व समाज द्वारा मान्य तथा अमान्य गुणों का संतुलन है।"[2]

---

1 शिक्षा मनोविज्ञान, डॉ० माथुर, आगरा, पृ. 497.

2 वही.

"Personality is the balance between socially approved and disapproved traits."

जे.ई. डेशील (J. E Dashiell) के अनुसार[1]-

"व्यक्ति का व्यक्तित्व संपूर्ण रूप से उसकी प्रतिक्रियाओं की और प्रतिक्रियाओं की आवश्यकताओं की उस ढंग की व्यवस्था है, जिस ढंग से वह सामाजिक प्राणियों द्वारा आंकी जाती है। यह व्यक्ति के व्यवहारों का एक समायोजित संकलन है, जो व्यक्ति अपने सामाजिक व्यवस्थापन के लिये करता है।"

"Individual personality is defined as his system of reactions and reaction possibilities into as viewed as fellow members of the society. It is the sum total of behaviour trends manifested in his social adjustments."

---

1 Fundamental of Objective Psychology, J.E. Dashiell, p. 55.

डेशील की परिभाषा, व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाओं और व्यवहारों का ढंग बताती है और कुछ हद तक युक्तिसंगत भी है। व्यक्तित्व के संबंध में आधुनिक परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की जाती है -

"व्यक्तित्व, व्यक्ति के साथ उन मनोशारीरिक संस्थान का गतिशील संगठन है, जो वातावरण में उसका अद्वितीय समायोजन निर्धारित करते हैं।"

"Personality is the dynamic organisation with the individual of those Psycho-physical systems that determine his unique adjustment to his environment."[1]

वस्तुतः व्यक्तित्व का विकास उसकी इसी व्यवस्थापन क्रिया पर आधारित होती है। विद्वानों के अनुसार, व्यक्तित्व के विकास में जो चार तत्व मुख्य रूप से प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं वे हैं -

(क) शरीर, (ख) ग्रन्थि रचना,
(ग) वातावरण, एवं (घ) सीखना।

---

1 Personality, A Psychological Introduction, Prof. H.W. Allaport, p. 46.

सम्यक रूप से इन तत्वों की अनन्य भूमिका स्थापित होती है। विस्तृत विवेचन अपेक्षित नहीं है तथापि संगीत के संदर्भ में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व एवं व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन हेतु संस्कार को महत्वपूर्ण मानते हैं जो विशिष्ट आदतों से उत्पन्न होते हैं और वातावरण में व्यवस्थापन के ढंग को बताते हैं, साथ ही ये गुण परिवेश के प्रभाव से बदलते रहते हैं।

विद्वानों के अनुसार व्यक्तित्व तीन प्रकार के होते हैं -

[क] बहिर्मुखी - वे व्यक्ति जिनकी रूचि बाह्य जगत से होती है, उनका व्यक्तित्व बहिर्मुखी कहलाती है।

[ख] अन्तर्मुखी - वैसे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति, जिनकी रूचि स्वयं में निहित होती है।

[ग] विकासोन्मुखी - वे व्यक्ति हैं, जिनमें दोनों का मिश्रण होता है और वह जीवन के विकास की आवश्यकताओं के लिये स्पष्ट निर्णय लेते हैं।

चाहे मनोवैज्ञानिक सिद्धांत हो या सामाजिक, ईश्वर प्रदत्त मनो-शारीरिक संगठनों के सामंजस्य के उपरान्त व्यक्ति का जो व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है उसके विकास में पारिवारिक, सामाजिक

वातावरण, शिक्षण-प्रशिक्षण अपनी अन्तर्चेतना इत्यादि सभी अवयव सक्रिय भूमिका निभाते हैं। संगीत के संबंध में प्रतिभा व्यक्तित्व का सहयोग सांगीतिक ज्ञान एवं प्रयोगात्मक प्रदर्शन की कलात्मकता को शतगुणित बढ़ाते हैं।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण (बुद्धि परीक्षण)

सांगीतिक अनुकूलता परीक्षण

(Musical Aptitude Test)

मनोविज्ञान द्वारा निर्धारित प्रमुख तत्वों में परीक्षण या अनुकूलता परीक्षण, जिसे अंग्रेजी में Aptitude Test कहते हैं, का भी अनन्य महत्व है। जैसा कि यह कई बार उल्लिखित किया जा चुका है कि मनोविज्ञान, मन मस्तिष्क, चेतना, व्यवहार का विज्ञान है, अतएव ज्ञानार्जन के क्रम में मनुष्य की नैसर्गिक प्रतिभा, व्यक्तित्व, संस्कार के संदर्भों में विषयगत ग्राह्यता किस सीमा तक है, इसकी जाँच-परख होना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं विषय की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक हो जाती है। संगीत के संदर्भ में हम बाल्यकाल से सुनते समझते आये हैं, कि पहले कहा जाता था - "देख्या, सिख्या, परख्या"। अर्थात् देखना, सीखना और तब परखना। प्राचीन गुरूकुल पद्धति के ऐसे अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं कि गुरू के समीप

ज्ञानार्जन हेतु प्रस्तुत होने वाले शिष्य को पहले कड़ी जांच परीक्षा से गुजरना होता था, ताकि इस बात का परीक्षण हो सके कि विद्यार्थी में अमुक विद्या ग्रहण के प्रति कितनी संवेदनशीलता है। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। हम बीसवीं से इक्कीसवीं शताब्दी की ओर लगभग अग्रसर हो चुके हैं। यह विज्ञान की दृष्टि ही प्रदान करता है किसी भी विषय वस्तु को गहनता से सिद्धांतों के तहत अध्ययन करना। तात्पर्य यह है कि विषयों की वैज्ञानिक रीति से अध्ययन एवं विवेचन करना आज के युग में सुलभ हो गया है।

अध्ययन एवं विवेचन की इस प्रक्रिया में शिक्षा एवं शिक्षण पद्धति, विशेषकर संगीत की शिक्षण-पद्धति का अनुशीलन मनोवैज्ञानिक पद्धति से होना परमावश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय संगीत गुरूकुल पद्धति के द्वारा विकसित, पल्लवित और समृद्ध हुआ है, जिसके अन्तर्गत गुरूकुल पद्धति द्वारा बाल्यकाल से ही एक निश्चित अवधि तक गुरू के सानिध्य में रहकर संगीत की शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था थी। काल की पगडंडी पर अग्रसर रहते हुये गुरूकुल पद्धति से परंपरा, वाणी, घराना इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं घराना पद्धति की किंचित संकीर्ण सीमाओं तथा अनेक सामाजिक, राजनैतिक कारणों ने संगीत की संस्थागत शिक्षण पद्धति की धारा के विकास का आधार निर्मित किया है।

आधुनिक समय में शैक्षणिक संस्थानों में संस्थागत संगीत शिक्षण

के चार मुख्य अंग माने जाते है -

1. छात्र
2. शिक्षक
3. शिक्षण पद्धति तथा
4. मूल्यांकन ।

तात्पर्य यह है कि छात्र, शिक्षक, शिक्षण पद्धति के साथ-साथ मूल्यांकन या परीक्षा का होना अति आवश्यक है, जिससे विषयगत ग्राह्यता के साथ-साथ शिक्षण की सार्थकता का भी मान हो पाता है।

वस्तुतः परीक्षा, परीक्षण, मूल्यांकन, जांच परीक्षा इत्यादि कुछ विशिष्ट योग्यताओं की माप करती है। जब मनोवैज्ञानिक तरीकों से इस प्रकार के परीक्षण किये जाते हैं तो ये मनोवैज्ञानिक परीक्षण कहे जाते हैं। ये मनोवैज्ञानिक परीक्षण जांच योग्यता की मापन में कुछ सामान्य सिद्धांत का प्रयोग करते हैं। संगीत में क्षमता एवं पद्धति प्रयोजन पर भी यह निर्भर करता है। संगीत में क्षमता का निर्धारण दो मूल तत्वों - स्वर और लय के संस्कार पर विशेष रूप से आधारित होता है। जिस विद्यार्थी में स्वर और लय के प्रति विशिष्ट संवेदनशीलता न हो उन्हें श्रवण संवेदना के लिये तैयार किया जाये, जो संगीत का आनन्द उठा सकें।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के संबंध में मनोविज्ञान विषय के अनेक

विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत विषय वस्तु के संदर्भ में इनका विस्तार से वर्णन अपेक्षित नहीं है तथापि उन परीक्षणों के संदर्भ में मूल धारणा के बारे में यह परिभाषा विशेष उल्लेखनीय है -

"एक मनोवैज्ञानिक परीक्षण आवश्यक रूप से एक वस्तु-निष्ठ एवं मानवीकृत माप, एक प्रतिदर्श के व्यवहार का होता है।"

"A Psychological test is essentially an objective and standardized measure of sample behaviour."[1]

संगीत के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के लिये सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल ई. सीशोर (Carl E. Seashore) का नाम आता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षण को इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है।

"Basically the function of Psychological test is to measure the individual diffe-

---

1 Psychological Testing, Awastani Anne, p. 21.

rences and a psychological test is essentially an objective and standardised measure of a sample of behaviour."[1]

वस्तुतः मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के अन्तर्गत प्रथमतः मानसिक परीक्षण आता है, क्योंकि मन, मस्तिष्क की स्थिति एवं ग्राह्यता का आकलन सबसे पहले करना परमावश्यक है। मनःस्थिति के आकलन के बाद तब जाकर बुद्धि परीक्षण का स्थान आता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षण हो या मानसिक परीक्षण इसमें यह जानने का प्रयास किया जाता है कि ज्ञानार्जन के इस पहलू के भिन्न-भिन्न अवयवों के प्रति उपयुक्तता तथा संस्कारगत गुण कितना है। संगीत का जहाँ तक संबंध है, यह अक्षरशः सत्य है कि संगीत के प्रति अनुराग प्रायः प्रत्येक मनुष्य में पाया जाता है। यह अन्य बात है कि शायद ही हजारों-लाखों में दो-चार होंगे जो संगीत की माधुर्य संवेदनशीलता के प्रति शून्य हों।

डॉ० वसुधा कुलकर्णी के अनुसार -

मानसिक परीक्षण तीन प्रकार से करते हैं -

1. क्षमता का परीक्षण (Ability Test)

---

1 भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, डॉ० वसुधा कुलकर्णी, पृ. 187.

2. उपलब्धियों का परीक्षण (Intelligence Test)
3. विशेष गुणों का परीक्षण (Special Aptitude Test)

ये परीक्षण मानव की योग्यता को ढूंढने के वैज्ञानिक आधार हैं। योग्यता की परिधि में मनुष्य में कुछ आन्तरिक तथा कुछ बाह्य गुण होते हैं। इस आधार पर यह आन्तरिक गुणों का परीक्षण है। मनोवैज्ञानिक आधार पर जो परीक्षण होते हैं उनमें तीन गुण होते हैं -

(अ) वैधता (Validity)
(ब) विश्वसनीयता (Reliability)
(स) मानकीकरण (Standardisation)

इन परीक्षणों के विस्तार से चर्चा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार करना आवश्यक नहीं है तथापि संगीत के संबंध में इनकी प्रासंगिकता उपयोगिता एवं आवश्यकता के संदर्भ में जब हम सूक्ष्म परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि ललितकला के रूप में संगीत मनुष्य की अन्तर्भावना की अभिव्यक्ति मानी जाती है, जो मानसिक भावनाओं का लालित्यावरण प्रतिफल है। इन भावनाओं की अभिव्यक्ति में शरीर के साथ-साथ मन की स्थिति की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। मंन, बुद्धि से संबंधित है तथा मानसिक परीक्षणों के द्वारा बुद्धि और बुद्धि मापने की अवधारणा ही बुद्धि परीक्षण के क्षेत्र में सहायता प्रदान करते हैं।

मनोवैज्ञानिक, मानसिक या बुद्धि परीक्षणों के संदर्भ में जब हम सांगीतिक जांच के लिये अग्रसर होते हैं तथा मुख्य रूप से केन्द्रित क्रिया की जाती है तो सांगीतिक जांच परीक्षण के विभिन्न स्वरूप का उल्लेख एवं उन पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। संगीत संबंधी जांच के लिये निम्न तरीके अपनाये जा सकते हैं[1] -

1. लिखित परीक्षा -

सांगीतिक जांच के लिये लिखित जांच परीक्षा ज्ञान प्राप्ति की जांच के लिये अत्यन्त उपयोगी है, जो निबन्धात्मक या तकनीकि शैली के अन्तर्गत हो सकती है। इसके लिये शिक्षक द्वारा ही बनाई गई प्रश्नावली के अन्तर्गत जांच की जा सकती है। विशेषकर संगीत की प्रारंभिक तथ्यों को लेते हुये। जैसे - स्वर, अलंकार, प्रारंभिक राग इत्यादि के संदर्भ में संवेदनशीलता की जांच।

2. प्रायोगिक परीक्षा -

विद्यार्थियों में संगीत के प्रति अभिरूचि एवं कौशल की जांच प्रायोगिक तरीके से भी की जा सकती है। संगीत में स्वरों की पहचान, स्वरों का ऊंचा-नीचापन, विभिन्न स्वरों पर अलग-अलग

---

1 भारतीय शास्त्रीय संगीत और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - शोध प्रबन्ध, स्वयं, पृ. 118.

ठहराव की पहचान इत्यादि द्वारा इसकी जांच की जा सकती है।

3. मौखिक परीक्षा -

संगीत के प्रति तीव्र जिज्ञासा जानकारी एवं प्रत्युत्पन्नमति की जांच शिक्षक इसके द्वारा कर सकते हैं, ताकि विद्यार्थी की अभि-रूचि का, इस माध्यम से शीघ्रता से, ज्ञान हो सके।

4. प्रश्नावली द्वारा -

संगीत के संबंध में लिखित व प्रयोगात्मक बातों के अतिरिक्त सामान्य ज्ञान से संबंधित एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार करके भी विद्यार्थी की बुद्धिमत्ता, अभिरूचि, जिज्ञासा, इत्यादि के बारे में जांच की जा सकती है। इसमें संगीत के तथ्यों से हटकर सामान्य ज्ञान की बातें भी शामिल की जा सकती है।

5. रिकार्ड द्वारा -

विद्यार्थी, संगीत के प्रति अपनी जानकारी यदि कहीं अंकित करता रहे तो भी इस माध्यम से विद्यार्थी की संगीत के प्रति लगाव, लगन, रूचि, उनके सामाजिक एवं व्यक्तिगत अनुकूलता तथा समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में जाना जा सकता है, जिससे संगीत के प्रति उनकी अभिरूचि निर्धारण में काफी मदद मिलती है।

बुद्धिमत्ता एवं उपलब्धि परीक्षण[1]

इन परीक्षणों एवं इनकी विविध विधियों के अनुसार संगीत जैसे प्रयोगात्मक विषय में बुद्धिमत्ता एवं उपलब्धि परीक्षण भी अत्यंत उपयोगी होता है। जिससे पता चलता है कि संगीत में विद्यार्थी की वर्तमान योग्यता कितनी है तथा आगे संगीत सीखने की कितनी क्षमता है। यह विभिन्न उम्र वर्ग के अनुसार ही होनी चाहिये।

इस प्रकार के परीक्षण को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जाता है -

1. नाद-श्रुति-स्वर ज्ञान पर आधारित
2. राग ज्ञान
3. ताल और लय ज्ञान।

1. नाद-श्रुति-स्वर ज्ञान -

(अ) सर्वप्रथम शुद्ध स्वरोच्चारण हो तथा बाद में स्वर आकार में भी गाये जायें तथा सभी स्वरों के बारे में

---

1 स्वयं शोध प्रबन्ध : भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पृ. 120-21.

प्रश्न किया जाये।

﴾ब﴿ तत्पश्चात् कोमल विकृत और तीव्र विकृत स्वरों का प्रयोग करके स्वर ज्ञान की जांच की जाये।

﴾स﴿ कोमल विकृत में बारी-बारी से रिषभ, गंधार, धैवत तथा निषाद स्वरों के प्रयोग एवं स्वर ज्ञान की जांच तथा इसके बाद तीव्र मध्यम की जांच।

﴾द﴿ सप्तक में पहले एक और बाद में दो स्वरों को छोड़ते हुये आकार में गाकर पूछा जाना कि कितने और कौन से स्वर नहीं गाये गये आदि।

2. राग ज्ञान -

﴾अ﴿ इसके अन्तर्गत वैसे विद्यार्थी की जांच हो सकती है जिन्हें संगीत का प्रारंभिक ज्ञान है और उनके इस ज्ञान के आधार पर प्रारंभिक रागों को स्वर एवं आकार में आरोह-अवरोह प्रस्तुत कर राग ज्ञान की जांच की जा सकती है।

﴾ब﴿ वैसे विद्यार्थी, जिनमें कुछ विशेष प्रतिभा परिलक्षित हो अथवा उसकी जांच की जानी हो, उन्हें कुछ उच्च

स्तरीय रागों के आरोह-अवरोह गाकर राग ज्ञान की जांच की जानी चाहिये।

3. <u>ताल और लय ज्ञान</u> -

इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम लय की स्थिरता की जांच परमावश्यक है। किसी भी लय में पहले गिनती के माध्यम से 1 - 2 - 3 - 4... बिल्कुल बराबर-बराबर लय के अन्तर्गत पढ़ने और ताली देकर प्रदर्शन करने की क्षमता की जांच की जानी चाहिये।

इसके पश्चात एक मात्रा में 2 मात्रा बोलने, व्यक्त करने की क्षमता अथवा दुगुन लय की जांच होनी चाहिये। तदुपरान्त चौगुन की लय, जो कि दुगुन लय की दुगुन के आधार पर भी समझाई जा सकती है, की समझ के संबंध में क्षमता की जांच की जानी चाहिए।

परीक्षणों की इसी श्रृंखला में विभिन्न लय-छंद युक्त अलंकार को प्रस्तुत करके विद्यार्थी की उस छंद के प्रति संवेदनशीलता इत्यादि की जानकारी प्राप्त की जा सकती है - जैसे -

1. सा रे सा रे ग, रे ग रे ग म ..... झपताल ‡10 मात्रा‡
2. सा रे ग रे ग म, रे ग म ग म प.... दादरा ‡ 6 मात्रा‡
3. सा रे ग सा रे ग म, रे ग म रे ग म प रूपक तीव्रा ‡ 7 मात्रा‡
4. सा रे ग म, रे ग म प, ग म प ध.. तीन ताल ‡ 16 मात्रा‡

लय की स्थिरता की जांच में निम्न विधि उपयोगी हो सकती है। पहले प्रत्येक मात्रा में एक ठहराव से स्थिरता की जांच -

1 ऽ , 2 ऽ , 3 ऽ , 4 ऽ

फिर बीच में किसी मात्रा में दुगुन लय शामिल कर जांच -

1 ऽ , 1 2 , 3 ऽ , 4 ऽ

या,

1 ऽ , 2 ऽ , 1 ऽ 2 ऽ , 4 ऽ

कुछेक इस प्रकार के जांच से संगीत संबंधी प्रारंभिक परीक्षणों के संदर्भ में ज्ञान अभिरूचि की जांच हो सकती है जिसके अन्तर्गत स्वर, लय दोनों के प्रति विद्यार्थी की संवेगात्मक सूझ-बूझ का पता चल सकता है। साथ ही शुद्ध, कोमल तीव्र स्वरों के साथ-साथ विभिन्न छंदों में निबद्ध स्वरावली से लय-छंद के प्रति मनःस्थिति का भी आभास मिल पाता है।

प्रारंभिक जांच हो या शिक्षण के बाद की परीक्षा, संगीत में प्रशिक्षण के दौरान तथा प्रदर्शन स्तर के हर मोड़ पर एक अन्य महत्वपूर्ण अवयव की महत्ता उभर कर आती है, जो कलाकार, शिक्षक तथा विद्यार्थी के सांगीतिक जीवन के प्रत्येक काल से जुड़ा भी है और प्रभावित भी करती है, वह है - स्मृति।

स्मृति एवं विस्मृति (Memory and Forgetting)

भारतीय संगीत के बारे में यह कहा जाता है कि यह गुरूमुखी विद्या है। गुरू के मुख से निकले हुये नादोच्चार को शिष्य सुनकर उसे आत्मसात करता है, अभ्यासित कर उसमें और कलात्मक निखार पैदा करता है। इस क्रिया में प्रतिभा, बुद्धिमत्ता, लगन, अभ्यास इत्यादि के अतिरिक्त जो एक प्रमुख तत्व अपनी उपस्थिति एवं महत्ता का बोध कराता है, वह है "स्मृति"। संगीत प्रयोगात्मक महत्व का विषय होने के कारण इसमें लिख-पढ़कर सीखने की उतनी महत्ता नहीं है, जितना सुन-सीखकर। इस योग्यता के पीछे "स्मृति" का अनन्य महत्व है। सफल गायन-वादन के प्रस्तुतिकरण में सशक्त स्मृति की अद्भुत क्षमता का परिचय होता है। अनुभवगम्य स्मृति का ही प्रत्यक्ष रूप में हमें बोध हो पाता है।

'स्मृति' को जब हम मोटे तौर पर देखते हैं तो पाते हैं कि भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में शिक्षण क्रम प्रारंभ होने के साथ ही मानसिक एवं ज्ञानात्मक विकास का क्रम भी प्रारंभ होने लगता है। संगीत शिक्षण एवं अभ्यास के दौरान, जो भी क्रियायें की जाती हैं, वह चिन्तन-मनन के सहारे ज्ञान के भंडार को पुष्पित, पल्लवित एवं समृद्ध बनाती है। इस ज्ञानात्मक विकास का प्रभाव मनुष्य की कल्पना शक्ति पर पड़ता है, जिसका कि संगीत में अनन्य महत्व है। कल्पना, मन मस्तिष्क की सृजनात्मक उड़ान है। ललित कलाओं में जो कल्पना

का विवरण प्राप्त होता है, वह मनोविज्ञान की दृष्टि से केवल दृष्टि कल्पना तक सीमित रह जाता है, क्योंकि दृष्टि से ग्राह्यता में त्वरण मिलता है। वैसे ध्वनि तथा रस कल्पना सदृश अवयव संगीत के संबंध में महत्वहीन नहीं कहे जा सकते हैं।

मन मस्तिष्क में कल्पना एक ऐसा सशक्त तत्व हैं जो पूर्व अनुभवों से प्राप्त किये गये तत्वों को एक नये रूप में रखकर एक नये तत्व की रचना करती है। स्मृति एवं कल्पना के बीच कोई बड़ा अन्तर नहीं है, बल्कि कई बातों में दोनों में काफी साम्य हैं। पूर्व घटनाओं एवं अनुभवों से पुनर्स्मरण में ऐसे तत्व भी प्राप्त होते हैं, जिनका मौलिक घटना से कोई संबंध नहीं होता है। यह पुनर्स्मरण अनुभव ही स्मृति कहलाते हैं, जो वास्तव में कल्पना होती है।[1]

वस्तुतः कल्पना एवं स्मृति में इतनी निकटता एवं समता है कि विद्वानों ने कल्पना को स्मृति का ही विकसित रूप कहा है। कल्पना और स्मृति दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति, प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव की चेतना के समक्ष सुरक्षित रखती है तथा कल्पना उन अनुभूत विषयों का स्वेच्छानुसार पुनर्निर्माण करती है। कल्पना में स्मृति का योग रहता है। यह सारी क्रियायें मस्तिष्क

---

1 शिक्षा मनोविज्ञान, डॉ० एस. एस. माथुर, आगरा, पृ. 477.

में होती हैं, जिसके हेतु विद्वानों का विचार है कि मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जिसके सहारे वह पूर्वानुभूत ऐन्द्रिय संवेदनों और अनुभूतियों को फिर से बुला लेता है, जिसे हम सामान्यतः स्मृति कहते हैं।

डॉ० एस. एस. अवस्थी के अनुसार[1] -

> "It is memory which enables us to retain the mental pattern of action we have once performed, and so to do it more easily second time and on subsequent occassions."

> "Memory placed on record our first impression of a thing, is the reason that we are able to recognise it on the second occassion, otherwise we should have to make its acquaintance afresh every time."

---

1 A Critique of Hindustani Music and Music Education, Prof. S.S. Awasthi, Jullendhar, p. vii.

सीशौर के अनुसार —

"Musical memory is a talent which is inherited in vastly different degree, the differences being greater for the special capacity than for memory capacity in general."

स्मृति के संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के आधार पर यह भी सिद्ध कर दिया है कि स्मृति मानसिक शक्ति के साथ-साथ मानसिक प्रक्रिया भी है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भूतकालीन अनुभवों को अपनी वर्तमान चेतना में लाता है। यही क्रिया स्मृति या स्मरण कहलाती है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टाउट के अनुसार -

"स्मृति एक आदर्श पुनर्स्मरण है। इसकी स्थिति उस समय तक रहती है जहाँ तक कि यह आदर्श पुनर्स्मरण उसी रूप और क्रम में पुनः याद करता है, जिसमें कि उनका पहले अनुभव किया गया था।"

वुडवर्थ के अनुसार -

"स्मृति उस वस्तु को, जिसे पहले सीखा गया है, स्मरण रखने से संबंधित होती है।"

स्मृति, संगीत जैसे क्रियात्मक विषय के लिये अनन्य महत्व की चीज है। बचपन से जो कुछ भी सीखा जाता है, वह मन मस्तिष्क की कल्पना में रखा जाता है, जिसे पुनर्स्मरण एवं स्मृति के माध्यम से आवश्यकतानुसार प्रदर्शित किया जाता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर स्मृति की प्रक्रिया में चार खण्ड विद्वानों ने व्यक्त किये हैं -

1. सीखना
2. धारण
3. पुनर्स्मरण
4. पहचान।

1. <u>सीखना</u> -

भारतीय संगीत विधिवत् शिक्षण का विषय है जिसके अन्तर्गत गुरू से प्राप्त सांगीतिक ज्ञान को ग्रहण किया जाता है। वैसे सीखना प्रकृति प्रदत्त एक स्वतः गतिशील प्रक्रिया है। मानव बाल्यकाल से ही परिवार, समाज, वातावरण से कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने सीखने की प्रक्रिया को वातावरण के साथ अनुकूल व्यवस्थापन बनाने के निमित्त सक्रिय प्रक्रिया कहा है।

सीखने से तात्पर्य केवल व्यवहार अनुभव से लाभ उठाना नहीं, किसी कौशल को ग्रहण करना मात्र नहीं, वरन् सीखने की

सामग्री सुनियोजित करना, उसका मूल्यांकन करना इत्यादि है। सीखना अनुभव द्वारा व्यवहार में रूपान्तर लाना हो सकता है।

पील के अनुसार -

"सीखना व्यक्ति में एक परिवर्तन है, जो उसके वातावरण के परिवर्तनों के अनुसरण में होता है। उसकी रूचि, रुझान, निपुणता, योग्यता एवं श्लाघा शक्ति सभी सीखने की क्रिया की ही उपज है।"

बर्नहर्ट के अनुसार -

"किसी समस्या को सुलझाने अथवा किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अभ्यास द्वारा किन्हीं निश्चित परिस्थितियों में व्यक्ति के कार्य-कलापों में जो स्थायी रूपान्तर होता है, उसे सीखना कहते हैं।"

स्मृति के खंड के संबंध में यह स्पष्ट है कि जो कुछ हम सीखते हैं, वह हमारे मन-मस्तिष्क के अन्त:करण में स्थायी भाव की तरह व्यवस्थित हो जाते हैं। इन्हें अभ्यास के द्वारा मस्तिष्क में स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है जो मनोभौतिकीय शारीरिक क्रिया के द्वारा संभव हो पाता है।

2. धारण -

स्मृति के प्रखर प्रकटन के लिये धारण का अनन्य महत्व है, जो प्रत्येक मनुष्य में मस्तिष्कीय शक्ति के अनुसार अलग-अलग होता है। क्योंकि किसी शिक्षा को सीखने के उपरांत उसे मस्तिष्क में धारण किया जाता है। इस संबंध में वैज्ञानिकों का मत है कि किसी पाठ को सीखने के बाद उस चेतना के कुछ क्षण मस्तिष्क में स्थापित किये जाते हैं और वे पोषक मस्तिष्क पर कुछ निशान भी छोड़ जाते हैं, जिन्हें स्मृति चिन्ह कहते है। यहमस्तिष्क में अनवरत क्रिया के रूप में न होकर व्यक्ति विशेष की मस्तिष्क की संरचना के रूपान्तर पर निर्भर करती है और विभिन्न अवसरों एवं परि-स्थितियों के अनुसार प्रभावित होती रहती है।

धारण करने की शक्ति निम्न कारकों पर निर्भर करती है -

(क) मस्तिष्क

(ख) स्वास्थ्य

(ग) रुचि तथा

(घ) विचार तथा तर्क।

(क) मस्तिष्क - मस्तिष्क की बनावट तथा तीक्ष्णता, मनुष्य की बुद्धिमता को प्रभावित करते हैं, जो जन्मजात संस्कारों एवं प्रतिभा के सहारे क्रियाशील रहते है। इन्हीं

आधार पर मनुष्यों में धारण करने की शक्ति अलग-अलग होती है। इसी आधार पर मनुष्य की मानसिक योग्यता अलग-अलग होती है।

॥ख॥ स्वास्थ्य - स्वस्थ तन-मन हर प्रकार से लाभदायक होता है। स्वस्थ शरीर से किया गया कोई भी कार्य सफल होता है। क्योंकि इससे रुचि जाग्रत होती है। सीखा गया पाठ, संगीत विधा सभी मन-मस्तिष्क में ग्रहण होता है तथा जो धारण करने में सहयोगी सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि इससे धारण करने की शक्ति में वृद्धि होती है जिससे स्मृति शक्ति भी बढ़ती है।

॥ग॥ रूचि - ज्ञानार्जन में उस विषय के प्रति रूचि का होना परमावश्यक है। क्योंकि जिस विषय का अध्ययन किया जा रहा हो, उसके प्रति, जितनी अधिक रूचि होगी, धारण करने की शक्ति उतनी ही सशक्त होगी।

॥घ॥ विचार तथा तर्क - धारणा के लिये विचार का महत्वपूर्ण स्थान हैं। सीखे जा रहे विषय वस्तु के प्रति विचार करने तथा तर्क करने की बुद्धिमत्तापूर्ण शक्ति धारणा की क्रिया में काफी सहयोग प्रदान करती है और इससे मनुष्य की धारणा शक्ति भी मजबूत होती है।

3. पुनर्स्मरण -

किसी भी विषय की शिक्षा के अन्तर्गत पुनर्स्मरण उन अनुभवों की मानसिक चेतना की प्राप्ति है, जिसे पूर्व में सीखा जा चुका है। शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त मनुष्य उसे अपनी अलग-अलग क्षमता के अनुसार धारण करता है, उस पर चिन्तन-मनन करता है, अभ्यास के सहारे उसे ध्यानस्थ करते हुये ज्ञानात्मक स्तर का विकास करता है तथा अपनी पृथक शक्ति के अनुरूप आवश्यकता पड़ने पर उनका पुनर्स्मरण करते हुये, उसे व्यक्त किया जाता है। यह मुख्यरूप से स्वस्थ धारणा की शक्ति पर निर्भर करता है।

पुनर्स्मरण दो प्रकार का होता है -

(क) स्वभावोत्पन्न - यह ऐसा पुनर्स्मरण है, जो स्वभाव संस्कारगत प्राप्त होता है और रूचि एवं प्रतिभा के अनुसार मन मस्तिष्क में स्थापित रहता है।

(ख) विमर्शपूर्ण - यह ऐसा पुनर्स्मरण है, जिसके अन्तर्गत सजग एवं चिंतनशील मन से मनुष्य को पाठ एवं घटनाओं को याद करने में प्रयास करना पड़ता है। विशेष ध्यान देने के पश्चात् ही मस्तिष्क में धारण होता है तथा चैतन्यपूर्वक धारण शक्ति इसे पुनर्स्मरण की स्थिति तक ला छोड़ती है।

4. पहचान -

इन सारे तत्वों के साथ-साथ स्पष्ट पहचान करने की शक्ति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कुछ समय पूर्व धारण की गई शिक्षा अथवा पाठ को मानसिक योग्यतानुसार पहचान की जाती है जो चेतना के माध्यम से सहज होता है। इस हेतु अनुभव को भाव-बोध द्वारा उद्देश्य की सहायता मिलती है। पहचानना वर्तमान स्थिति का बोध कराती है।

स्मृति के प्रकार -

विद्वानों ने स्मृति की व्याख्या के साथ-साथ इसके प्रकार का भी उल्लेख किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना के संदर्भ में स्मृति पर व्यवस्थित विचार करते हुये स्मृति के दो भेद बताये हैं।[1]

1. विशुद्ध स्मृति
2. प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

प्रसिद्ध शिक्षा मनोवैज्ञानिक बर्गसन (Bergson) के अनुसार

---

1 रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वाराणसी, पृ. 260.

भी स्मृति के दो प्रकार हैं -

1. वास्तविक स्मृति - यह स्मृति मनुष्य की प्रतिभा और मानसिक गुणों से सीधे संबंधित है और उस पर आश्रित भी रहती है।

2. आदतजन्य स्मृति - यह स्मृति यांत्रिक होती है जो शारीरिक व्यवस्था एवं पाठ को प्रत्येक बार दुहराने की बौद्धिक योजना पर निर्भर करती है।

स्मृति के भेद के बारे में पाश्चात्य विद्वानों ने भी उल्लेख किये हैं। विस्तृत विवरण प्रस्तुत न करते हुये उल्लेख मात्र करना प्रासंगिक ही होगा।

According to Percy C. Buck[1]

Memory is of two kinds -

1. Recognition
2. The Power of Recall.

1. Recognition -

It is sometimes called Memory proper. Memory

---

1 Psychology for Musicians, Percy C. Buck, London, p. 55.

deals with the ideas, prompted by sensations, and Recognition occurs when an idea presents itself, and we recognize that we have met with it before.

2. Recall -

It happens when we search in our minds for something, and the idea comes up to the surfaces, often making an apparently instantaneous appearances, but always chronologically subsequent to the first moment of search.

Memory is practically just a convenient synonym for "Association of Ideas". The Experimental Study of human memory clearly indicates it under sensory memory which is of two kinds[1] -

1. Auditory Memory
2. Visual Memory.

Actually Sensory memory forms an integral part of the

---

1 The Psychology of Memory, Alan D. Baddeley, New York, pp. 235-36.

process of perception, something which can easily be lost sight of in, an approach that concentrate exclusively on memory.

Although in similarities between auditory and visual memory, it is important to bear in mind the very basic difference between hearing and Vision. The most fundamental of these, is that the special component, which is so important in Visual perception, is either absent from auditory perception or has to be coded in terms of time or intensity. Musical imagery is necessary in all forms of Musical memory. In vivid, Musical memory, we relive the Music.

वस्तुतः स्मृति के संबंध में इतने विवरण के साथ-साथ यह स्पष्ट है कि कला एवं मनोविज्ञान दोनों के ही संदर्भों में यद्यपि स्मृति की व्याख्या भिन्न है तथापि मनुष्य की मनोशारीरिक बनावट के संदर्भ में स्मृति की अवधारणा समान है। संगीत जैसे विषय जो कला के अन्तर्गत आने के साथ-साथ मन-मस्तिष्क चिन्तन, प्रतिभा, संस्कार, प्रशिक्षण इत्यादि से सीधे आबद्ध है, के लिये स्मृति की नितान्त आवश्यकता है। पाठ, अलंकार, बंदिशों की स्वस्थ स्मृति स्थायित्व के बल पर ही कलाकार की कलात्मकता एवं ज्ञानात्मक

भंडार का आकलन किया जाता है।

स्मृति के तत्व, उपयुक्त परिस्थितियां इत्यादि के साथ-साथ एक विलोम तत्व भी जुड़ा है जिसे विस्मृति कहते हैं।

विस्मृति (Forgetting) -

स्मृति के विलोम के रूप में विस्मृति भी जीवन का एक तथ्य है। यह भी मानव मस्तिष्क में निहित स्मृति चिन्ह के साथ आबद्ध है। यह मनुष्य की मानसिक योग्यता, बौद्धिक स्तर तथा परिस्थिति तथा वातावरण पर भी निर्भर करता है।

स्मृति और विस्मृति के संबंध में कई मनोवैज्ञानिक ने अपनी व्याख्या दी है। तात्पर्य यह है कि स्मृति और विस्मृति दोनों एक दूसरे का व्युत्क्रमानुपाती माना जाता है। जिस विद्यार्थी की स्मृति अच्छी होती है, उसमें विस्मृति की दर कम पाई जाती है, जबकि ठीक इसके विपरीत जिस विद्यार्थी में स्मृति स्तर क्षीण होती है तो निश्चित ही विस्मृति की दर उसमें अधिक पाई जाती है। मानसिक स्मृति चिन्हों में स्मृति-विस्मृति की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है।

सुविख्यात मनोवैज्ञानिक एबिंगहॉस (Ebbinghaus) के

अनुसार "विस्मृति बहुत बड़े अंग में याद करने की क्रिया के पूर्ण होने के ठीक पश्चात् ही प्रारंभ होने लगता है। पहले आधे घंटे में याद की हुई पाठ का कुछ भाग, 8 घंटे से लेकर एक दिन तक 2/3 भाग, लगभग छः दिनों में 3/4 भाग और एक महीने में 4/5 भाग विस्मृत हो जाता है।" जबकि रेडोसविजेविट्स (Radossawijewitsh) नामक मनोवैज्ञानिक के अनुसार "याद करने के छः घंटे के बाद 47% तथा पहले और दूसरे दिन के पश्चात् क्रमशः 68% तथा 61% ही याद रखा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति में अपने अलग-अलग मानसिक योग्यतानुसार स्मृति-विस्मृति की प्रक्रिया सतत् गतिमान रहती है। जिस प्रकार स्मृति के कई खंड है उसी प्रकार विस्मृति के भी दो प्रमुख कारण विद्वानों ने निर्धारित किये हैं। वे हैं -

1. क्षीणता (Fading)
2. रूकावट (Blocking)

1. <u>क्षीणता</u> -

किसी मनुष्य के मस्तिष्क में, ज्ञानार्जन के पश्चात् स्मृति चिन्ह निर्धारित हो जाते हैं। जिन्हें सक्रिय बनाये रखने के हेतु निश्चित अन्तराल पर अभ्यास के माध्यम से पहचान हेतु पुनर्स्मरण के क्षेत्र में जागृत रखना आवश्यक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कुछ

निश्चित अन्तराल पर पाठ को दुहराते रहने से मस्तिष्क के स्मृति चिन्ह जाग्रत होते रहते हैं। परन्तु यदि सक्रिय न किया गया तो कुछ काल बाद स्मृति चिन्ह धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है और धीरे-धीरे क्षीण होकर विस्मृति को आधार प्रदान करती है।

2. रूकावट -

विस्मृति के प्रमुख कारणों में रूकावट भी है, जो मनुष्य के स्मरण रखने की क्रिया में उपस्थित हो जाती है। भूलने में मस्तिष्क के स्मृति चिन्ह पूरी तरह नष्ट नहीं होते, किन्तु बीच में बाधक बनकर कुछ ऐसे तत्व रूकावट के रूप में आ जाते हैं जो विस्मृति का कारण बनते हैं। इनमें जो कुछ प्रमुख हैं - अन्य समान स्मृति, पूर्वलाक्षी अवरोध, संवेगात्मक कारण, साक्षी इत्यादि जो समय-समय पर अपनी उपस्थिति के कारण स्मृति की तीक्ष्णता को प्रभावित करते हैं तथा विस्मृति को महत्व प्रदान करते हैं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बैडेले के अनुसार -

> "The classical theory claims that progressive forgetting is due to the spontaneous recovery of unlearned prior items, decay theory argues that prior items

simply form a background of noise which exaggerates the spontaneous weakening of the trace over time."[1]

वंशानुक्रम एवं वातावरण (Heredity and Environment)

भारतीय संगीत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संगीत में घराना, परंपरा, कुल, खानदान विशेष से जुड़ा हुआ होना अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात मानी जाती है। इतना ही नहीं विज्ञान की दृष्टि से भी यह निर्धारित तथ्य है कि मानव के रूप में आज हम जो कुछ भी हैं, जिस रूप में हैं, वह सब वंशानुक्रम स्थिति की देन है। मानव की बहुत सी मानसिक व शारीरिक विशेषतायें जो परंपरागत चलती रहती हैं, उनमें माता-पिता के विशेष गुण पुत्र-पुत्री में वंशानुगत रूप में उपस्थित रहते हैं। पिता-पुत्र में वंश परंपरा के कारण ये समानतायें होती हैं। पिता के कई पुत्रों में उनके विशेष गुणों के आधार पर अधिकाधिक समानता विद्यमान रहती है। तथापि कभी-कभी कुछेक गुणों में असमानता भी उपस्थित रहती है। इस संदर्भ में वैज्ञानिकों ने यह भी प्रश्न उठाया है कि मनुष्य पर इस प्रकार के गुण संचरण में वंशानुक्रम का अधिक असर पड़ता है या परिवेश-वातावरण का। इस संदर्भ में वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये हैं। इस संबंध में मेण्डेल के प्रयोगों का बड़ा महत्व है, जिसके आधार पर यह स्पष्ट हुआ है कि समानता तथा असमानता विशेष परिस्थिति एवं अनुपात में एक

---

1 The Psychology of Memory, Alan D. Baddeley, New York, 1976, p. 125.

पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में संचरित होती है।

वंशानुक्रम में उन सब शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का समावेश माना जाता है, जिन्हें लेकर व्यक्ति जन्म लेता है, जो माता-पिता एवं वंश के गुणों से प्राप्त होता है। साधारणतः इसमें जाति समानता, विविधता, विचित्रता इत्यादि गुण शामिल किये जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यक्ति अपने मानसिक गुणों को वंशानुक्रम से ही ग्रहण करता है जबकि उसका विकास वातावरण की अनुकूलता पर निर्भर करती है। जेम्स ड्रेवर के अनुसार "माता-पिता के मानसिक व शारीरिक गुणों का संतान में हस्तांतरण, वंशानुक्रम के ही आधार पर होता है।

जबकि मनोवैज्ञानिकों के एक वर्ग ने वातावरण को अधिक महत्वपूर्ण बताया है कि वंशानुगत विशिष्टताओं से परे, जिस वातावरण में बच्चा पालित होता है, उसी के अनुसार वह बनता है। इस संबंध में डॉ० वॉटसन एवं गार्डनर का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने प्रयोगों के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि "मानव के विकास में वातावरण का प्रमुख हाथ है।"

बाद के वैज्ञानिकों ने इन दोनों महत्वपूर्ण तथ्यों को पुनः विश्लेषित किया और यह तथ्य स्थापित हुआ है कि वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों ही समान शक्ति रखने वाली महत्वपूर्ण अवयव हैं

जो मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति निश्चित रूप से वंश-परंपरा के गुण लेकर जन्म लेता है, परन्तु उन गुणों को विशेष रूप से परिमार्जित कर विशेष एवं उपयुक्त ढांचे में विकसित करने का कार्य वातावरण का है। यह स्थापित तथ्य है कि जीवन की हर एक घटना, उपलब्धि मानव के लिये "वंशानुक्रम एवं वातावरण" का समन्वित प्रतिफल है। इनमें से दोनों का महत्व है। वास्तव में यदि व्यक्ति के विकास के लिये वंशानुक्रम बीज प्रदान करता है तो वातावरण उसके लिये भूमि, प्रकाश, जल, वायु इत्यादि का काम करता है।

इसलिये यह कहा जाता है कि

व्यक्तित्व = वंशानुक्रम + वातावरण के स्थान पर

व्यक्तित्व = वंशानुक्रम x वातावरण।

मानना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि दोनों के ही प्रभाव से मानवीय गुणों से युक्त व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वंशानुक्रम को जन्मजात वैयक्ति गुणों का योगफल भी कहते हैं। जीव विज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार "निषिक्त अण्ड में संभाव्यतः उपस्थित विशिष्ट गुणों का योग ही वंशानुक्रम है। जिसके अनुसार मनुष्य का शरीर असंख्य कोशिकाओं से निर्मित होता है। पुरूष व स्त्री (पिता-माता) के मिलन से उत्पन्न गर्भावस्था की प्राथमिक स्थिति में भ्रूण की रचना केवल एक कोष से होती है। जिसे युक्ता कहते हैं। युक्ता पुरूष के

शुक्र व स्त्री के अण्ड के संयोग होने पर निर्मित होती है। दोनों के सामुज्यन से निषेचन क्रिया के उपरान्त भ्रूण का प्रथम स्वरूप बनता है। जिसमें शुक्र व अण्ड दोनों बीज कोषों के रूप में कुछ विशेष गुण-दोषों के वाहक होते हैं जिन्हें वंश-सूत्र (Chromosomes) कहा जाता है। इन वंश सूत्रों में और भी सूक्ष्म पदार्थ होते हैं जिन्हें जीन्स (Genes) या पित्रैक कहते हैं। इनमें जो गुण विद्यमान होते है वे गुण भ्रूण में आ जाते हैं, जो वंश परम्परा के अनुसार माता-पिता-दादा-दादी-नाना-नानी, तात्पर्य है कि मां या पिता की वंश श्रृंखला से संबंधित होते हैं तथा बच्चों में आ जाते हैं, जिन्हें ही वंशानुक्रम कहते हैं।

वातावरण से तात्पर्य मनुष्य के चारों तरफ की परिवेशगत परिस्थिति से समझा जाता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डगलस ने अपनी पुस्तक 'Educational Psychology' में वातावरण के संबंध में लिखा है -

> "वातावरण वह कारक है जो समान बाह्य शक्तियों प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप है। जो जीवधारी के जीवन और स्वभाव, व्यवहार और अभिवृद्धि, विकास और प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।"

इस प्रकार वातावरण के अन्तर्गत वे सभी तत्व आते हैं जिसका मानव के

मानसिक, बौद्धिक, नैतिक व आध्यात्मिक जीवन पर प्रभाव डालते हैं।

चूंकि वातावरण के अन्तर्गत परिवेशगत प्रत्येक पहलू आते हैं अतएव वातावरण के तीन प्रकार सामने दिखलाई पड़ते हैं -

(क) प्राकृतिक वातावरण,
(ख) सामाजिक वातावरण, एवं
(ग) मानसिक वातावरण।

मानवीय गुणों के विकास में प्रकृति के साथ-साथ मनुष्य का समाज व अपने परिवेश के साथ की अनुकूलता अत्यंत महत्वपूर्ण कही जाती है। समाज के हरेक पहलु में इस सिद्धांत की महत्ता तथा उपयोगिता सिद्ध होती है। यदि संगीत विषय में इस सिद्धांत की उपादेयता के संदर्भ में विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि संगीतज्ञ बनने के लिये इन दोनों में कोई एक गुण संपूर्ण नहीं है। एक संगीतज्ञ का पुत्र क्यों न हो यदि उचित संगीतमय वातावरण न मिले तो वांछित विकास संभव नहीं हो पाता। या हम कहें कि वंशानुगत सांगीतिक गुण विद्यमान न हों तो चाहे लाख वातावरण की उपलब्धता में लालन पालन हो तो भी वांछित परिणाम व स्तर प्राप्त नहीं हो सकता है।

संगीत की दृष्टि में वंश परंपरा को घराना के नाम से भी

संबोधित करते हैं। घरानेदार-परम्परागत संगीतज्ञ अथवा कलाकार। गुरू-शिष्य परंपरा से प्राप्त संगीत शिक्षण में घरानेदार परिवार के वंशानुगत गुण प्राप्त बच्चों के यदि संगीतमय वातावरण भी मिल जाता है तो वही बालक स्तरीय कलाकार एवं श्रेष्ठ संगीतज्ञ बनने की ओर अग्रसर होने लगता है।

इस आधार पर मानव में सांगीतिक योग्यता को ही महत्वपूर्ण माना जाता है और सांगीतिक योग्यता को वंशानुगत मानने वाले विद्वानजन इस योग्यता को जन्मजात मानते हैं। इस गुण के विकास में वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों के महत्व के संदर्भ में विद्वानों ने अपने प्रयोगों के आधार पर कुछ सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं, जिनमें हर्स्ट ‖Hurst‖ के अनुसार -

‖क‖ जब माता-पिता दोनों सांगीतिक होते हैं तो उनके सभी बच्चों में सांगीतिक गुण उपस्थित रहते हैं।

‖ख‖ जब माता-पिता में कोई एक सांगीतिक होता है तो या तो कोई बच्चा सांगीतिक गुणों से युक्त नहीं होगा या फिर उनके बच्चों में पचास प्रतिशत ही गुण विद्यमान रहता है।

‖ग‖ जब माता-पिता कोई सांगीतिक नहीं होता है तो या तो कोई बालक सांगीतिक गुणों से युक्त नहीं होगा या फिर कुछ में सांगीतिक रूझान हो सकता है।

कुछेक अन्य मनोवैज्ञानिक गेल्टन ‡ Galton ‡ तथा अम्रान शीनफेल्ड ‡ Amran Scheinfeld ‡ ने भी कई विशिष्ट संगीतज्ञों के पारिवारिक वातावरण के आधार पर प्रयोग किये हैं, जिसके आधार पर जो सिद्धांत स्थापित किये गये हैं उनके अनुसार -

‡क‡ जब माता-पिता दोनों सांगीतिक प्रतिभा से युक्त होते हैं तो उनके बच्चों में सत्तर प्रतिशत या इससे अधिक सांगीतिक प्रतिभा होती है।

‡ख‡ जब माता-पिता में कोई एक सांगीतिक होते हैं तो बच्चों में अधिकतम साठ प्रतिशत तक सांगीतिक गुण विद्यमान होते हैं।

‡ग‡ जब माता-पिता दोनों में से कोई भी सांगीतिक नहीं होते वहां केवल 15 से 20 प्रतिशत तक ही सांगीतिक गुण की योग्यता रहती है।

इसी संदर्भ में जर्मन शोधकर्त्ताओं हैंकर ‡ Haecker ‡ एवं ज़ीन्हन ‡ Zeenhen ‡ के वंशानुगत जांच ‡ Heredity Test ‡ भी विशेष उल्लेखनीय है। जिनके अनुसार -

‡क‡ माता-पिता दोनों संगीतिक हो - बच्चों में सांगीतिक योग्यता 86 प्रतिशत तक उपस्थित रहते हैं।

(ख) माता-पिता किसी एक में सांगीतिक गुण हो - बच्चों में 60 प्रतिशत सांगीतिक गुण उपस्थित रहते हैं।

(ग) माता-पिता यदि दोनों में संगीतिक गुण न हों - तो बच्चों में 25 प्रतिशत तक सांगीतिक गुण उपस्थित रहते हैं।

जन्मजात संस्कारों के आधार पर वंशानुगत सांगीतिक प्रतिभा एवं गुणों से संबंधित विभिन्न विद्वानों द्वारा संपादित भिन्न-भिन्न प्रयोगों से प्राप्त सिद्धांत के अनुसार पाते हैं कि वंशानुक्रम से प्राप्त गुण बच्चों में सांगीतिक गुणों के विकास में महत्व रखते हैं। यदि इन्हीं स्तरीय परिस्थिति में वातावरण परिवेश का भी सक्रिय योगदान मिल जाता है तो विकास परिणाम अत्यन्त उच्च कोटि का प्राप्त होता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि वंशानुक्रम तथा परिवेश का प्रभाव बच्चों पर अवश्य पड़ता है तथापि ऐसे उदाहरण भी है जबकि माता-पिता बाबा, दादी नाना-नानी इत्यादि से पृथक गुण भी बच्चों में दिखाई देते हैं। संगीतज्ञों के परिवार में अनुकूल परिवेश के होते हुये भी कभी-कभी अपवाद स्वरूप एक-दो बच्चे ऐसे भी पाये जाते हैं जिन्हें न तो संगीत में रूचि होती है न उनमें सांगीतिक क्षमता ही होती है। इसी प्रकार कभी-कभी ऐसे परिवार में प्रखर सांगीतिक क्षमता वाले भी दो-एक बच्चे होते हैं जिनमें वंशानुगत सांगीतिक गुण कभी विद्यमान नहीं रहते हैं। यद्यपि इस प्रकार के

गुण अपवाद स्वरूप ही पाये जाते हैं तथापि ऐसे उदाहरणों में वंशानु-क्रम से अलग संस्कारगत गुणों के आधार पर यह समझा जाता है।

इस संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों के कुछेक सिद्धांत उल्लेखनीय है।

रिविस्ज़ ॥ Rivistz ॥ के अनुसार[1] -

"The Individual brings the natural aptitudes for his development with him when he comes into the world. The environment furnishes the stimuli for development. Aptitude and environment together make up the sum total of the Individual."

फ्रैंसवर्थ ॥ Fransworth ॥ के अनुसार[2] -

"It is now clear that neither nature nor nurture can alone make Musician, both must be present before Musical and others

---

1 Introduction to the Psychology of Music, G. Rivisz, p. 87.

2 The Social Psychology of Music, Fransworth, p. 184.

abilities can emerge. The Person who has excellent tonal and Rhythmic sensitivities will not be as likely to achieve in Music as well another with similar sensitivities who finds himself in a more propitious Environment."

मानव के सांगीतिक विकास के निमित्त प्राप्त प्राकृतिक तत्वों के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार उन तत्वों के मनोवैज्ञानिक आधार भी अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि वंशानुगत वंश परम्परा से प्राप्त जन्मजात सांगीतिक क्षमताओं का विकास, उपयुक्त परिवेश, वातावरण तथा अनुकूलता प्राप्त हो तो, उत्तम ढंग से हो पाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि मानवीय गुणों के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है।

—— • ——

अध्याय

तृतीय

अध्याय - तृतीय

भारतीय संगीत : तात्विक उद्भव, विकास एवं आधारभूत तत्व

संगीत- पारिभाषिक व्याख्या

भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की धरोहर, सांस्कृतिक सभ्यता का परिचायक, धार्मिक अध्यात्म की सशक्त बुनियाद भारतीय संगीत, सृष्टि के उद्भव के समय से ही अखिल विश्व की प्रत्येक सजीव गतिविधि में व्याप्त है। यह मानसिक वृत्ति के साथ ही जुड़ा हुआ माना जाता है। वैसे संगीत केवल संस्कृति का ही परिचायक नहीं अपितु जीवन के आरंभ से लेकर अंतिम यात्रा तक मानव मात्र की प्रत्येक क्रिया के साथ आबद्ध भी है। अतएव यह कहा जाता है कि संगीत हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक एवं भावात्मक जीवन का अंग भी है। मानव मात्र की साहचर्यता से अलग इसे ईश्वरीय वाणी भी कहा गया हैं, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूप

भी है। शास्त्रों से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक अखंड तथा अद्वैत होते हुये भी परं-ब्रह्म एवं शब्द ब्रह्म - दो रूपों में कल्पित होता है।

"तैत्तिरीयोपनिषद" में स्पष्ट कहा गया है कि 'ओम्' [प्रणव] यह ब्रह्म है। 'ओम्' से ही सामगायक गान प्रारंभ करते हैं। 'ओम्' का प्रथम उच्चारण करके ही वेद पाठ या गान प्रारंभ किया जाता है। 'ओम्' एक अक्षर साक्षात् ब्रह्म है तथा यह अक्षर ही ब्रह्म और परब्रह्म है। जो सामगान की परंपरा से निःसृत होता हुआ संगीत के लिये नाद ब्रह्म के रूप में स्थापित किया गया है। क्योंकि विद्वानों के अनुसार 'ओऽम्' शब्द और स्वर [साहित्य और संगीत] का आदि समन्वित रूप है। अव्यय, अव्यक्त, निराकार ब्रह्म का अनुभव सर्वप्रथम सांगीतिक ॐ स्वर के रूप में हुआ है।[1] सामान्य संदर्भों में 'संगीत' शब्द अत्यन्त ही सहज और सरल प्रतीत होता है। भारतीय संगीत की परंपरानुसार इसकी व्युत्पत्ति सम् + गै + क्त = संगीत है। अर्थात् गै धातु में सम् उपसर्ग लगाने से यह शब्द बना है। "गै" का अर्थ है गाना तथा सम् [सं] एक अवयव है, जिसका व्यवहार निरन्तरता, उत्कृष्टता, समानता, संगीत, औचित्य आदि

---

1 भारतीय संगीत शास्त्र, श्री तुलसी राम देवांगन, 1994, पृ. 4.

को सूचित करने के लिये किया जाता है। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से सम्यक् प्रकार से गाया गया गीत ही संगीत है। लेकिन हमारे प्राचीन शास्त्रों में संगीत की परिभाषा अधिक व्यापक अर्थों में मिलती है। संगीत रत्नाकर के अनुसार -

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं, त्रयं संगीतमुच्यते।"

अर्थात् - गायन, वादन तथा नृत्य - इन तीनों कलाओं के समावेश को संगीत कहते हैं।

एक अन्य प्राचीन परिभाषा में इन तीनों अंगों के आधार पर संगीत को "त्रिवृत्त शिल्प" कहा गया है -

"त्रिवृत्त वे शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रंय।"

लेकिन परिभाषा जो भी व्यक्त हो, इन सबका आधार नाद है, नाद ब्रह्म है। संगीत कला का संपूर्ण ज्ञान नाद पर आधारित है। नाद संपूर्ण ब्रह्माण्ड की आन्तरिक शक्ति है। चूंकि संगीत की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही हुई है और मनीषियों के अनुसार सृष्टि के क्रम में सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का प्रस्फुटन हुआ। इस प्रकार इस पंच भौतिक जगत् में आकाश सर्वप्रधान है और आकाश का प्राण नाद हैं। इसी कारण जगत् को नादात्मक कहते हैं। नाद के

बिना जगत् का कोई कार्य संभव नहीं है। अतः स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि नाद लौकिक संसार का प्रतिपालक है। हमारे वेदों का प्रादुर्भाव भी इसी नाद से मान्य है। वेद, उपनिषद एवं संगीत में भी इसे अनादि, अनन्त और अविनासी कहा गया है। वस्तुतः संगीत एक अन्विति है, जिसमें गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों का समावेश है, अर्थात् गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं की समविष्ट अभिव्यंजना संगीत के रूप में व्यक्त होती है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में संगीत का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'सम्यक्गीतम्' रहा है। संगीत में जब 'सम्यक्गीतम्' के अनुसार व्युत्पत्ति करते हैं तो यह गीत वाद्य तथा नृत्य के अभिन्न साहचर्य सा प्रतीत होता है।

'सम' (सम्यक) और 'गीत' दोनों शब्दों के मिलने से संगीत बनता है। मौखिक गाना ही गीत है।[1]

संगीत आनन्द का आविर्भाव है। आनन्द ईश्वर का रूप है। संगीत के ईश्वर-स्वरूप होने के कारण इसे मोक्षमार्ग प्राप्ति का साधन कहा गया है।

---

1 संगीत शास्त्र, के. वा. शास्त्री, उ0 प्र0 सूचना विभाग, लखनऊ, पृ. 1.

योग और ज्ञान के आचार्य विज्ञानेश्वर के अनुसार -

"वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन, मोक्षमार्गं प्रयच्छति ।।[1]

अर्थात् - वीणा वादन तत्व को जानने वाला, श्रुति जातियों में विशारद एवं ताल का ज्ञाता बिना प्रयास के मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करता है।

संगीत का समन्वय तो पूजा अर्चना में, साधना में भी दृढ़ रज्जु बनकर भगवान के नाम रूप को मन के साथ बांध देती है। क्योंकि ईश्वर संगीत से जितना प्रसन्न होते हैं उतना अन्य तरीकों से नहीं।

"गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः ।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः ।। 26 ।।

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती ।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेव-दानव-मानवाः ।। 27 ।।

- संगीत रत्नाकर - प्रथम स्वराध्याय

---

1 संगीत दर्पण, पं० दामोदर, पृ. 13.

अर्थात् - जगतपालक, सब कुछ जानने वाले पार्वतीपति भगवान शंकर गीत से प्रसन्न होते हैं, गोपियों के पति अनन्त भगवान श्रीकृष्ण वंशी की ध्वनि के वश में हो जाते हैं। सृष्टिकर्त्ता भगवान ब्रह्मा सामदेव की गीति में आसक्त हैं तथा देवी सरस्वती वीणा में आसक्त हैं। जब देवी-देवताओं की यह स्थिति है, तब यक्ष, गंधर्व, देव, दानव, मानव की बात क्या है।

प्राचीन काल से ही महात्माओं ने संगीत को ईश्वरीय वाणी माना है। नाद को नाद ब्रह्म भी कहा जाता है जो संगीत का मूलाधार है। ब्रह्म ईश्वर की भाँति नाद भी सर्वव्याप्त है। यह ब्रह्मांड ही नादमय है, जो संगीत का प्राण है। उपनिषद् व पुराणों में संगीत को लय-ताल-वाद्य विशेष के संयोजन से परिमार्जित गीत के रूप में उल्लिखित किया गया है। वैसे विद्वानों ने यह भी कहा है कि 'संगीत' शब्द की विस्तृति या व्याप्ति वैदिक काल से भरत काल तक गीत या अधिकतम वाद्य तक ही सीमित रही है।

संगीत देवभाषा है। देव-वाणी है। मानव की कौन कहे, स्वयं परमपिता परमेश्वर भी इससे आबद्ध हैं, गुणगान करते रहते हैं। संगीत के संबंध में अखिल विश्व के पालनकर्त्ता स्वयं भगवान विष्णु ने कहा है -

"नाहं बसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदयं न च ।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद।।"

संगीत का आविर्भाव सृष्टि के समय से हुआ माना जाता है, क्योंकि संगीत को भी ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, इसे अपने आप में ब्रह्म स्वरूप माना गया है।

संगीत मानव आत्मा को प्रकाशित करता है, मानव बुद्धि-मत्ता को विस्तृत करता है और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सहयोग करता है। यह अखिल विश्व में सर्वमान्य है तथा मानव के अन्तर्मनो-भावों को संचरित करने के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होता है। विद्वानों का विचार है कि मनोभाव चाहे सुखद हो या दुःखद संगीत को सृष्टि के आदिकाल से ही मनोभावों को अभिव्यक्त करने के सरल नैसर्गिक माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। क्योंकि प्रारंभ से ही मानव अपने शौर्योत्साह, हर्षोल्लास और शोकोत्ताप को इनके द्वारा मूर्तरूप प्रदान करता रहा है। मानव ही क्या जड़ कही जाने वाली प्रकृति और मूर्च्छितावमूर्छित चेतना वाले पशु-पक्षी तक अपने भावोद्रेक को प्रकट करने के लिये इनका सहारा लेते हैं। प्रिया धारित्री के विरहोत्ताप से बूंद-बूंद पिघलते बादल धारा सार के रूप में नर्तन का मादक दृश्य उपस्थित करते हैं और इधर प्रियालिंगन से उच्छ्वसित धरती अपने उद्दाम जलपूर के तरंग हस्तों से उतंग तटबन्धों पर मर्दल थाप देती हुई नर्तन के प्रभाव को तीव्रतर बना देती है और इन दोनों के आद्य सहचर पशु-पक्षी और विटप-वल्लरी नर्म साखाओं के समान अपने स्वतः स्फूर्त विविध नाद स्वरूप

गीत वितान से धरती, आकाश को एकलय-बद्ध बना डालते हैं। गान, नर्तन और वादन की यह दिव्य समन्विति ही तो अनाहत संगीत है और अनाहत नाद केवल कल्पना के विरले समाधिस्थ भावयोगी ही इस संगीत का रसपान कर पाते हैं।

संगीत को जब नाद ब्रह्म कहते हैं तो अखिल ब्रह्मांड का स्वरूप नाद मय माना जाता है। ब्रह्मांड संगीतमय है। पवन के प्रवाह, प्रपात के अवतरण, सरित् के अभिसरण, पक्षियों के गुंजन, पशुओं के उन्मदन और शिशुओं के रोदन में भी नाद के तीव्र, मध्य और मन्द रूप स्वरों के आरोह-अवरोह और लय में गति-यति स्पष्ट सुनी-समझी जा सकती है। विद्वानों के अनुसार सरगम ... का प्रादुर्भाव पशु-पक्षियों की बोली से हुआ है। संगीत दर्पण के रचनाकार दामोदर पंडित के अनुसार मयूर से षडज, चातक से ऋषभ, अजा से गंधार, क्रौंऽच से मध्यम, कोकिल से पंचम, दर्दुर से धैवत तथा गज से निषाद स्वर की उद्भूति हुई है। संगीत का आवास केका और काकली में ही नहीं, बालक के क्रन्दन में भी है। आवश्यकता है उसका मर्म समझने के लिये माँ तुल्य ममता भरित कान की। गायन या गीत के प्रथम स्वर आहत हृदय से फूटे थे, भले ही आहति का कारण प्रणय जन्य तीव्र उद्वेग रहा हो या नैराश्य जन्य चरम अवसाद।

वैसे संगीत बाह्य साधनों की प्रतीक्षा नहीं करता। स्वर

जब राग बनकर निर्बन्ध प्रसृत होने लगते हैं तो सिर में घूर्णन, करों में ताल और पांवों में थिरक अनायास उत्पन्न होने लगते हैं। ये न किसी ज्ञान की प्रतीक्षा करते हैं, न प्रशिक्षण की। इसलिये लोक-गीत, लोकधुन और लोकनृत्य भी इतने आकर्षक होते हैं। संसार का प्राचीनतम शास्त्रीय गीत, नृत्य और वाद्य स्वतः स्फूर्त हैं। शास्त्रीय काव्यों, छन्दों, रागों व तालों का उद्गम इन्हीं अनगढ़ भावों, धुनों और करतालों से हुआ है। भारत में भी ऋग्वेदीय ऋचाओं और ग्राम तथा अरण्यक सामगानों की सृष्टि अपढ़ जन-जातियों के आश्चर्य भय और पीड़ा के त्रिक पर सधे अवस्थित बोलों धुनों और परचालन से हुई है।

संगीत - अध्यात्मिक व्याख्या

हमारे भारतीय संस्कृति की अध्यात्मिक परंपरा और मान्यतानुसार ज्ञान का अनादि भंडार वेद माना जाता है। जहां तक संगीत का प्रश्न है, सामवेद संगीतमय कहा गया है। वेद विश्व का सर्वोच्च और अनादि ज्ञान है। जिस शब्दात्मक वेद को सुना, पढ़ा जाता है, उसका सूक्ष्म या अभौतिक रूप, जिसको पुरोवाक् कहा जाता है, वह अनादि और अनन्त है। वह उसी अव्यक्त परब्रह्म का गुण है, जिससे इस पंचभौतिक विश्व का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार विश्व का प्रत्येक स्थूल पदार्थ ब्रह्मा की तन्मात्राओं से प्रकट होता है, उसी प्रकार वहां का ज्ञान भंडार भी उसी अनन्त ज्ञान-स्त्रोत से

आता है। इसी कारण वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है। वेदों का ज्ञान सत्य के ऊपर आधारित है और वेदों में ऋत अथवा सत्य को ही मनुष्य के सदाचार अथवा धर्म की एक मात्र कसौटी माना गया है। वेद अध्यात्मिक ज्ञान का सबसे बड़ा स्त्रोत है। महा विद्वान अरविन्द घोष के अनुसार[1]-

> "वेद संसार के सर्वोत्तम और गंभीरतम धर्मों के आदि स्त्रोत हैं, साथ ही वे कुछ सूक्ष्मतम पराभौतिक दर्शनों के भी मूलाधार हैं। वास्तव में वेद इन सबसे ऊँचे आध्यात्मिक सत्य का नाम है, जहाँ तक मनुष्य का मन गति कर सकता है।"

वस्तुतः वेद मनुष्यकृत नहीं, ईश्वर प्रेरित है और जब हम वेद ज्ञान को ईश्वर प्रेरित स्वीकार करते हैं तो फिर इसमें कुछ सन्देह नहीं रह जाता है कि उनमें जो सिद्धान्त बतलाये गये हैं, मनुष्यों को जिन कर्तव्य कर्मों के पालन करने का उपदेश दिया गया है, वे किसी एक समाज या जाति के लिये नहीं हो सकते, वरन् उनमें जो तत्व पाया जाता है, वह सार्वभौम है।

---

1 सामवेद, सं0 श्री राम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली, पृ. 16.

संगीत के संदर्भ में वेदों का अनन्य महत्व है। क्योंकि वेद भी ईश्वर प्रेरित वाणी है और संगीत स्वयं ईश्वरीय वाणी माना गया है। वेदों में सामवेद संगीतमय है और गीता में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है -

"वेदानां सामवेदोऽस्मि।"

सामवेद चारों वेदों में सबसे छोटा है। वैदिक मन्त्रों का सस्वर उच्चारण यज्ञों में अति प्राचीनकाल से प्रचलित था। अनेक विद्वानों का मत है कि उस समय स्वरों की संख्या आजकल की भाँति नहीं वरन् अट्ठारह थी। बाद में कई एक कारणों से स्वरों की संख्या घटा कर सात कर दी गई, वे हैं -

1. उदात्त
2. उदात्ततर
3. अनुदात्त
4. अनुदात्ततर
5. स्वरित
6. स्वरितोदात्त एवं
7. एक श्रुति।

विद्वानों के अनुसार इनके प्रयोग इत्यादि में अशुद्धि होने के कारण, इनकी संख्या तीन मानी जाने लगी। जो सामगान की परम्परा कही जाती है।

वैसे भी वेदों की श्रुति परम्परा उदगान द्वारा ही जीवन्त रही है। इसीलिए वैदिक मनीषियों ने स्वराघात को महत्ता प्रदान कर, वेद मन्त्रों के गायन में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों को महत्वपूर्ण माना है, जिनमें संगीत के सप्तस्वर विद्यमान हैं। उदात्त में निषाद और गान्धार, अनुदात्त में ऋषभ और धैवत एवं स्वरित में षडज, मध्यम एवं पंचम स्वर माने गये हैं। वेद मन्त्रों की शुद्धता के रक्षक स्वर और वर्ण ही है। अतः वैदिक मंत्र स्वर, लय आदि के कारण संगीत तत्वों से समन्वित तथा गेय हैं।

वैदिक काव्य में यद्यपि ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मंत्र संगीत की दृष्टि से उल्लेखनीय है, तथापि सामवेद में संगीत का जितना परिपाक हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वेदों में आर्चिक संगीत, गाथिक संगीत एवं सामगान की परंपरा का उल्लेख मिलता है, जिनसे बाद में सप्तस्वर, ग्राम, मूर्च्छना इत्यादि की न केवल उपलब्धता ही सुलभ हो पाई है, अपितु भारतीय संगीत की एक विशिष्ट परंपरा का प्रवाह भी हम लोगों को सहज उपलब्ध हो सका है।

वेद से लेकर पुराण, उपनिषद इत्यादि में भी संगीत का उल्लेख ब्रह्म के एक रूप 'नाद-ब्रह्म' के रूप में उल्लिखित किया गया है और सृष्टि में ही संगीत को निराकार ब्रह्म-नाद ब्रह्म स्वर-ईश्वर कहकर संबोधित किया गया है, अतएव उपनिषद एवं उपनिषदों में ब्रह्म की चर्चा के बारे में कुछ उल्लेख प्रस्तुत है। जिससे उपनिषद

के संबंध में तो प्राप्त संगीत-ब्रह्म के उल्लेख उपलब्ध होते है। परम तत्व ब्रह्म को उपनिषदों में भी मान्यता दी गई है। वस्तुतः उपनिषद भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है। क्योंकि जब-जब संसार में दर्शन और धर्म, बुद्धि और प्रज्ञा, विज्ञान और नैतिकता में समन्वय की आवश्यकता पड़ती है, उपनिषद ही संसार का मार्ग-दर्शन करते रहे हैं।

उपनिषद का शाब्दिक अर्थ होता है - उप + नि + सद = निकट श्रद्धा सहित बैठना यानि गुरू के समीप उपदेश सुनने के लिये श्रद्धा से बैठना। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार उपनिषद का अर्थ उस ज्ञान से है, जो भ्रम को नष्ट करके हमें सत्य की ओर पहुंचने के योग्य बनाता है। आचार्य शंकर के अनुसार "बाह्य ज्ञान" उपनिषद कहलाता है।

उपनिषदों की वास्तविक संख्या विवादास्पद है। साधारणतः उपनिषदों की संख्या 108 मानी जाती है, इनमें से दस उपनिषदें मुख्य हैं - ईष, केन, प्रश्न, कठ, माण्डूक्य, तैतिरीय, ऐतरेय, मुण्डक छान्दोग्य और वृहदारण्यक। उपनिषद गद्य और पद दोनों में है।

उपनिषदों का दर्शन ऋषियों के जीवन का दर्शन है। तत्व विचार की समस्या उनके जीवन की खोज है। इनमें परमतत्व के विचार में क्रमशः विकास मिलता है। जिज्ञासु मुनियों ने परमतत्व

को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जानने की चेष्टा की है। 'सृष्टि रचना में परम तत्व', धार्मिक जगत् में परम तत्व, और मनोवैज्ञानिक जगत् में परम तत्व। अन्त में वे इस परम ज्ञान पर पहुँचे हैं कि आत्मा, प्रकृति, ईश्वर तथा सृष्टि रचना का और अध्यात्मका परम तत्व एक ही रहस्यमय ब्रह्म है।

उपनिषदों के अनुसार जगत् का सार या परम तत्व ब्रह्म है। ब्रह्म नित्य, सत्य, ज्ञान, अनन्त और शुद्ध चैतन्य है। ब्रह्म ही सबकी आत्मा है। ब्रह्म ही समस्त गगन का सत् है, ब्रह्म ही ज्ञान है। उपनिषदों के तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि महावाक्यों में यही बतलाया गया है कि यह ज्ञान ही समस्त जगत् का तत्व है। वही आत्मा है और वही ब्रह्म है। ब्रह्म अनादि अनन्त है, वह अन्तःस्थ भी है परन्तु फिर भी परात्पर है, किन्तु जगत् उसके एक अंश मात्र से बना है। ब्रह्म ही जीव जगत् का कारण है। ब्रह्म पूर्ण है।

ब्रह्म अज्ञेय नहीं है। "मुण्डकोपनिषद" के अनुसार "ओऽम्" (प्रणव) धनुष है, आत्मातीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। हमें एकाग्रचित होकर निशाने को बेधना चाहिये।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन किया गया है - पर और अपर, निर्गुण और सगुण, पर ब्रह्म असीम निरुपाधि, निर्गुण, निष्प्रपंच और परात्पर है।

विद्वानों के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही है। "अहं ब्रह्मास्मि" तथा "तत्वमसि" की अनुभूति इस सत्य को प्रकट करती है। क्योंकि जीवात्मा भी परम रूप में ब्रह्म ही है। आत्मा अन्तर्यामि है। जीव की चार अवस्थायें हैं -

1. जागृत (विश्व),
2. स्वप्न (तैजस),
3. सुषुप्ति (प्रज्ञा), और
4. तुरीय (आत्मा)।

आत्मा न चेतन है न अचेतन। बल्कि एक अद्वैत विश्व चेतन है। यह आत्मा ही ब्रह्म है।

जीवात्मा पांच कोषों से युक्त है - अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष।

ब्रह्म से ही जगत् का विकास माना गया है। ब्रह्म (आत्मा) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से पौधे।

इस सृष्टि को ही ब्रह्म की लीला कहा है, जो आनन्ददायक है और ब्रह्म के जो स्वरूप साकार या निराकार रूप में प्राप्त होते हैं उनका भी अंतिम लक्ष्य न केवल परम तत्व की प्राप्ति है अपितु आनन्द की अनुभूति कराना है।

संगीत की उत्पत्ति

संगीत की उत्पत्ति के संबंध में हमारे ग्रन्थों में ऐतिहासिक उल्लेखों के माध्यम से अनेक उपख्यान प्रचलित हैं। वैसे यह सत्य ही है, कि हमारे धार्मिक व अध्यात्मिक जीवन के ताने-बाने से प्रारम्भ से जुड़े होने के कारण यह धार्मिक उपख्यानों के साथ प्रारम्भ से ही आबद्ध है। हमारे देवी-देवताओं, ऋषियों, मुनियों, गंधर्वों इत्यादि भी संगीत के न केवल अनन्य साधक हुये हैं, अपितु सीधे-सीधे जुड़े भी रहे हैं। इस हेतु अध्ययन के फलस्वरूप यह प्राप्त होता है कि संगीत की उत्पत्ति के बारे में जितने भी विचार सामने आते हैं उन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है -

1. प्राकृतिक आधार,
2. धार्मिक आधार, तथा
3. मनोवैज्ञानिक आधार।

1. प्राकृतिक आधार के अन्तर्गत वे तथ्य व धारणायें आधार स्वरूप सामने आते हैं, जिनमें प्रथमतः तो यह कहा जाता है कि सृष्टि के साथ ही संगीत भी धरती पर आविर्भावित हुआ तथा सृष्टि में विकास के साथ-साथ संगीत का भी विकास हुआ। विकास के इस क्रम में ज्यों-ज्यों मानव के मन-मस्तिष्क की परिपक्वता बढ़ती गई, संस्कृति-सभ्यता की साहचर्यता जैसे-जैसे बढ़ती गई, संगीत भी साथ-ही-साथ

अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराती हुई विकास के इस दौर में शामिल रही। ग्रन्थों में यह भी उल्लेख मिलता है कि हमारे संगीत के विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों की ध्वनियों से ही हुई है।

बृहद्देशी में उल्लेख मिलता है[1] -

षडजं वदति मयूरो, ऋषभं चातको वदेत ।
अजा वदंति गान्धारं, क्रौंचो वदति मध्यमम् ।।

पुष्प साधारणे काले कोकिलः पंचमं वदेत।
प्रावृट्काले सम्प्राप्ते धैवतं दुर्दुरो वदेत ।।

सर्वदा च तथा देवि, निषादं वदते गजः।।

अर्थात् - मोर षडज में बोलता है, चातक ऋषभ में, अजा गंधार में, जबकि क्रौंच मध्यम स्वर में बोलता है। जब पुष्प अंकुरण काल में कोयल पंचम स्वर में बोलती है। मेढ़क धैवत स्वर में बोलता है और हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है।

---

1 मतंग प्रणीत बृहद्देशी, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1976, पृ. 6-7.

पं० दामोदर कृत संगीत दर्पण में मुख्य सात स्वरों की उत्पत्ति के संबंध में निम्न उल्लेख मिलता है[1]-

"षडजं वदति मयूरः पुनः स्वरमृषभः चातको ब्रूते ।
गांधाराख्यं छागो निगदति च मध्यमं क्रौंचः ।।

गदति पंचममंचितवाक्‌पिको रटति धैवतमुन्मददर्दुरः ।
श्रृणिसमाहतमस्तककुन्जरो गदतिनासिकयास्वरमंतिमम् ।।

अर्थात् - मोर षडज स्वर का उच्चारण करता है और चातक ऋषभोच्चार करता है। बकरा गंधार स्वर का उच्चारण करता है। क्रौंच मध्यम स्वर उच्चारता है। कोकिल पंचम में बोलती है। मस्त मेढ़क धैवत स्वर का उच्चारण करता है। जब हाथी के मस्तक पर अंकुश का आघात किया जाता है तब वह अपनी नाक में से अंतिम स्वर निषाद का उच्चारण करता है।

उल्लेख की समता-विभिन्नता जो भी हो, संगीत का उदगम ही मानव जाति के उद्‌भव के साथ हुआ है। मानव का जैसे ही नेत्रोत्मीलन

---

1 पं० दामोदर कृत संगीत दर्पण, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1950, पृ. 70.

हुआ, उसके कंठ से ध्वनि निःसृत हुई, रूदन-गान का रूपान्तर सामने आया तथा मानव विकास के साथ संगीत का विकास हुआ। सृष्टि और संगीत की उत्पत्ति के संबंध में जब सम्यक् विचारधारा पर ध्यान दिया जाता है तो प्रथमतः यह मत सर्वस्वीकार्य है कि भारतीय परम्परा ज्ञान, इतिहास, सृष्टि के रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते हैं। भारतीय वैदिक मतानुसार भी सृष्टि परमात्मा की रचना है। सृष्टि की रचना के उपरान्त व्यवस्थित संचालन हेतु ईश्वर ने विविध कलाओं, विधाओं का प्रतिपादन, वैदिक ज्ञान पितामह ब्रह्मा के द्वारा ऋषियों, मुनियों, गंधर्वों को प्रदान किया। क्योंकि संगीत के सप्तस्वरों का आदि-रूप नाद ब्रह्ममय ओंकार है।

पाश्चात्य मनीषी हर्मीस के अनुसार प्राकृतिक रचना क्रम का प्रतिफलन ही संगीत है। ग्रीक विचारक पाइथागॉरस के अनुसार संगीत विश्व की अणुरेणु में सर्वत्र व्याप्त है। प्लेटों का मत है कि संगीत समस्त विज्ञानों का मूलाधार है तथा ईश्वर के द्वारा इसका निर्माण विश्व के वर्तमान विसंवादी प्रवृत्तियों के निराकरण के लिये ही हुआ है।

संगीत की उत्पत्ति के प्राकृतिक आधार के संदर्भित फारसी की एक कथा भी प्रचलित है, जिसके अनुसार हज़रत मूसा पैगम्बर को ब्राइल नामक फरिश्ता द्वारा एक पत्थर को सहेज कर रखने तथा

एक बार तीव्र प्यास लगने पर खुदा बन्दगी की ओर से पानी बरसने पर पानी की बूंदों का पत्थर पर पड़ने पर सात टुकड़ों में विभक्त होकर सात ध्वनियों के प्रस्फुटन का उल्लेख मिलता है।

2. धार्मिक आधार के अन्तर्गत सबसे सशक्त बुनियाद है भारतीय संगीत का धर्म एवं अध्यात्म से जुड़ा होना। इतना ही नहीं प्रायः हमारे सभी देवी देवता संगीत से जुड़े हैं। भगवान शंकर, माँ सरस्वती, भगवान श्री कृष्ण, भगवान गणेश इत्यादि देवी-देवता तो हमेशा किसी-न-किसी वाद्य के साथ निरूपित किये जाते हैं। इस संबंध में तो प्रबल प्रकटीकरण यही हो सकता है कि हमारी संगीत कला के आदि प्रेरक व उपदेशक देवी-देवता ही रहे हैं। भारतीय परंपरानुसार ब्रह्मा और शिव संगीत के आदि आचार्य हैं। यही दोनों सृष्टि के उत्पत्ति कर्त्ता व संहारकर्त्ता भी है। यही दोनों संगीत ही नहीं, अन्य विधाओं के भी आचार्य माने गये हैं। कल्पभेद से कभी प्रधान ब्रह्मा होते हैं तो कभी प्रधान शिव और कभी भगवती भी प्रधान होती हैं। जिस कल्प में जिसकी प्रधानता होती है उस कल्प के विधाओं के कर्त्ता भी वे ही होते हैं।

दत्तिलम ग्रंथ में प्राप्त उल्लेख के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्तित गान-वाद्य को नारद ने संसार में प्रचलित किया।

'नंदिकेश्वर कारिका' एवं 'रूद्रडमरूद्भव सूत्र विवरण' आदि

ग्रंथों में प्राप्त उल्लेख के अनुसार आदिदेव भगवान शंकर को संगीतोत्पत्ति का कारक बताया गया है। वस्तुतः संगीत वह सुन्दर सुरभि, सरस पद्म है, जो बिना स्वर्ग के प्राणदायक शीतल ओसकण के खिलता ही नहीं। हमारे ऋषियों व आचार्यों का विश्वास है कि भगवान शंकर के डमरू से वर्ण और स्वर दोनों ही उत्पन्न हुये।

इतना ही नहीं देव ब्रह्मा और देवी सरस्वती संगीत के आदि प्रेरक के रूप में माने जाते हैं। ब्रह्मा के मूल में ही शब्द या नाद की अवस्थापना है।

ठाकुर जयदेव सिंह के अनुसार -

> शिव, ब्रह्मा, सरस्वती, गंधर्व और किन्नर को, जो हम अपनी संगीत कला के आदि प्रेरक मानते चले आये हैं, इसके मूल में यही भावना है कि संगीत कला दैवी प्रेरणा से ही प्रादुर्भूत हुई है।

माँ सरस्वती को संगीत कला की जननी कहा जाता है। सरस्वती ब्रह्मा की वह शक्ति हैं, जिसके द्वारा ब्रह्मा में गतिशीलता आती है। इसी शक्ति से ही ब्रह्मा विश्व का निर्माण करते हैं। इस शक्ति का पर्याय है शब्द या नाद। अतः सरस्वती संगीत इत्यादि ललित कलाओं की जननी कही गई हैं।

धार्मिक मान्यता के आधार पर ही कुछ विद्वानों का मत है कि संगीत की उत्पत्ति 'ओऽम्' शब्द से हुई है। 'ओऽम्' शब्द एकाक्षर होते हुये भी अ-ऊ-म, इन तीन अक्षरों के मेल से बना है। तीनों अक्षरों के मेल से इनकी ध्वनि एक हो जाती है, इनमें तीन अक्षर क्रमशः तीन शक्तियों का बोध कराते हैं।

अ - सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा - उत्पत्ति कारक

उ - पालनकर्त्ता, रक्षक, शक्ति के प्रतीक विष्णु

म - संहारकारक, महेश शक्ति स्वरूप भगवान शंकर

वस्तुतः यही 'ओऽम्' शब्द ही संगीत के जन्म का मूल स्त्रोत है। प्रायः सभी कलायें इसी ओम् शब्द के विशाल गर्भ से आविर्भूत हुई है। इस संदर्भ में तंत्रों में ऐसा वर्णन मिलता है -

"अकारो विष्णु रूदिदष्ट, उकारास्तु महेश्वरः।

मकारेष्येच्यते ब्रह्मा प्रणवेन मयोमतः ।।"

अर्थात् - अकार विष्णु का वाचक, उकार महेश्वर का वाचक और मकार ब्रह्मा का वाचक है, ऐसा ही मत सर्वमान्य है।

3. <u>मनोवैज्ञानिक आधार</u> - संगीत की उत्पत्ति के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक आधार की परिकल्पना, विद्वानों ने सृष्टि रचना एवं तदुपरान्त मानव के मन-मस्तिष्क के क्रमिक विकास तथा सामाजिक परिवेश के

साथ सामंजस्यता के आधार पर की है। इसके पीछे यह भी मूल तत्व तथा भावना काम करती है कि संगीत में अन्तर्मन के भावों को व्यक्त करने की अद्वितीय क्षमता है।

ठाकुर जयदेव सिंह के अनुसार इस धारणा के अनुसार संगीत का उद्भव भावव्यंजक ध्वनि (*Interjectional Cry*) से हुआ है। यही ध्वनि, भाषा और संगीत दोनों का मूल है इसी लिये शब्द-ब्रह्म-नाद ब्रह्म के रूप में ब्रह्म को उल्लिखित किया गया है। मानव की कौन कहे, पशु-पक्षी भी जब अपने मन की विशेष अवस्था को, मनोगत भावों को व्यक्त करते हैं तो भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि का उच्चारण करते हैं। इसी कारण कहा भी जाता है कि संगीत का संबंध मनोविज्ञान से स्वतः जुड़ जाता है।

इस संदर्भ में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक ऐसा विचार आता है कि सृष्टि के उद्भव के बाद जब मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारंभ हुआ होगा और तब जबकि भाषा का विकास नहीं होगा, संभव है, विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण से एक दूसरे से अपने भावों का संचरण किया जाता रहा होगा। समीप बैठे व्यक्ति या अपेक्षाकृत दूर बैठे व्यक्ति से आवश्यकता मंद्र-तार स्तर की ध्वनि उत्पादित कर, कुछ संकेत के माध्यम से संपर्क भाषा का प्रयोग किया जाता होगा।

पाश्चात्य विद्वान फ्रायड के अनुसार - संगीत का जन्म एक शिशु की विभिन्न क्रियाओं के समान मनोविज्ञान के आधार पर हुआ, जिस प्रकार एक बालक रोना, चिल्लाना, हंसना, गाना आदि क्रियायें मनोविज्ञान के माध्यम से आवश्यकतानुसार स्वयं सीख जाता है, उसी प्रकार संगीत का प्रादुर्भाव एवं विकास मानव में मनोविज्ञान के आधार पर स्वतः क्रमिक रूप में हुआ है।

संगीतोत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुये प्रसिद्ध विद्वान हल्टोरिश आयोवो (Hultorish Iobo) ने "The History of Music " में लिखा है कि "सृष्टि का जब सृजन हुआ, तब पुरूष और नारी के प्रथम मिलन अभिसार पर जो स्वर मुखरित हुये वही संगीत बन गया। वे स्वर इतने मधुर व आकर्षक थे कि जिसको सुनकर कोई भी प्राणी आत्मविभोरित हो सकता था, क्योंकि वे स्वर मधुर क्षणों के विशाल गर्भ से प्रसूत हुये थे। इन्हीं स्वरों का आगे चलकर संगीत के रूप में विकास हुआ। मि0 जार्ज फोक्स के अनुसार, सृष्टि के जन्म के साथ ही संगीत का जन्म हुआ। बालक जन्म लेने के बाद रोता है - बोलता नहीं। तात्पर्य है कि भूख-प्यास की अभिव्यक्ति तथा अन्य प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति वह ध्वनि के माध्यम से

करता है, जो संगीत का ही एक रूप है।[1]

सुप्रसिद्ध इतिहासकार अर्लेन्टाइल के मतानुसार समाज की स्थापना के बाद जब मानव भाषा, रहन-सहन, सामाजिक व्यवहार आदि में सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित अवस्था को प्राप्त कर लिया गया तब उसका ध्यान संगीत की ओर गया होगा, अज्ञानावस्था में संगीत पर विचार करना संभव नहीं है। सभ्यता के विकास के साथ ही संगीत का जन्म होना संभव है।

इतिहासकार जॉन एलो के अनुसार - भारतीय संगीत बहुत प्राचीन है। पुरातत्वीय खुदाई में प्राप्त प्रस्तर मूर्तियों के अध्ययन से यह बात सिद्ध हुई है कि ईसा से पन्द्रह बीस हजार वर्ष पूर्व भारतीय संगीत का जन्म हुआ होगा। भारत ने ही विश्व को सर्वप्रथम संगीत का उपहार दिया।[2]

संगीत (ध्वनि) की वैज्ञानिक अवधारणा

ध्वनि, जिसे अंग्रेजी में Sound (साउन्ड) कहा जाता है, उर्जा का एक

---

1 भारतीय संगीत का इतिहास, उमेश जोशी, पृ. 23.

2 वही, पृ. 24.

रूप है। वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि उर्जा का कभी नाश नहीं होता है। यह एक रूप से दूसरा रूप बदलता रहता है। वैज्ञानिक तथ्य यह प्रदर्शित करते हैं कि जब किसी वस्तु में कंपन या आंदोलन होती है तो इसके स्थान या अवस्था में परिवर्तन होती है। यह कंपन अपने अगल-बगल के परिवेश [वायुमंडल] को भी आंदोलित करती है। कंपन या आंदोलन हेतु की गई क्रिया में जो उर्जा दी जाती है, वही संचरित होकर ध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है, वस्तुतः ध्वनि तरंगे वायुमंडल में संचरित होती है और उत्पादित होने के उपरान्त इन्हीं तरंगों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचती है। ध्वनि का उत्पादन उर्जा के संचरण पर आधारित रहती है। जब बल लगाकर कहीं कंपन या आन्दोलन उत्पन्न किया जाता है तब ध्वनि उत्पन्न होती है। ध्वनि के बारे में कहा गया है -

> "Sound is any vibratory disturbance in a material medium, which causes Auditory sensation to a normal ear."

नाद एवं ध्वनि का संबंध अनन्य माना जाता है। हमारे कंठ से उत्पन्न ध्वनि के संबंध में संगीत रत्नाकर में उल्लेख मिलता है कि —

"आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम ।।
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमा दूर्ध्वपथे चरन।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वा णिर्भावयति ध्वनिम्।।"

सं0 रत्नाकर, प्र0 खंड, पृ. 64

अर्थात् - कुछ कहने की इक्षा होने पर आत्मा से मन को प्रेरणा मिलती है, मन देह में स्थित बहिन का आहना करता है, आहत बहिन वायु को प्रेरणा देती है। ब्रह्मग्रंथि में स्थित वायु क्रमशः उध्र्वमार्ग की ओर संचरण करता हुआ नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा में ध्वनि का आविर्भाव करता है। मानव के शरीर में आहत नाद की उत्पत्ति का यही प्रकार है।

ध्वनि के संबंध में शास्त्रों में यह उल्लेख मिलता है -

"देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीत संहितः ।"

अर्थात् - देश-देश में ध्वनि की यह प्रवृत्ति है, जिस कारण इसे देशी की संज्ञा प्राप्त है।

ध्वनि के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है[1]-

"ध्वनिर्योनिः परा ज्ञेया ध्वनिः सर्वस्य कारणम्।
आक्रान्त ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावर जंगमम्।।
ध्वनिस्तु द्विविधः प्रोक्तो व्यक्ताव्यक्त विभागतः।
वर्णोपाथभनाद व्यक्तो देशी मुखमुपागतः ।।"

अर्थात् - ध्वनि अलौकिक शक्ति है और यही सबका कारण है। स्थावर-जंगम, सारे जगत् पर ध्वनि का प्रभाव है। ध्वनि के व्यक्त एवं अव्यक्त दो विभाग है। जो ध्वनि वर्णों द्वारा मुख से व्यक्त होती है, वह देशी है।

आधारभूत तत्व

मानव का जन्म से लेकर मृत्यु तक की यात्रा नादमयी है। एक ओर नाद ने जहाँ हृदय को उल्लासित किया है, भौतिक स्तर पर तृप्त कराते हुये प्रेयस मार्ग की प्राप्ति कराई है, वहीं मनसा स्तर पर आत्मिक आनन्द का अनुभव कराने में भी यह नाद सक्षम रहा है।

---

1 निबन्ध संगीत, श्री गर्ग, पृ. 76.

इसी नाद का आध्यात्मिक स्वरूप सृष्टि के प्रलय काल तक आत्मोपलब्धि कराने में सक्षम रहा है। "नाद-ब्रह्म" अलौकिक एवं असीमित आनन्द प्रदान करने वाला वह आत्मिक तत्व है, जो मानव मात्र में उर्जा एवं कल्याणकारी भावनाओं की उत्पत्ति करता है। इसकी अनुभूति का सहज एवं सरलतम साधन तथा साध्य है "संगीत"। महाराजा भर्तृहरि ने अपनी पुस्तक 'वाक्यपदीय' में नाद को ब्रह्म मानते हुये कहा है -

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दव्यायदक्षरम् ।
विवर्तते अर्थ भावेन प्रक्रिया जगतोयतः ।।"

अर्थात् - नादरूपी ब्रह्म अनादि, विनाशरहित तथा अक्षर है और उसकी विवर्त प्रक्रिया से ही यह जग भासित होता है, क्योंकि इस जगत् की चर और अचर प्रत्येक वस्तु में नाद व्याप्त है।

अध्यात्मवादियों के अनुसार जिस प्रकार ब्रह्म के बिना सृष्टि की कल्पना असंभव है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति और जगत् की प्रत्येक वस्तु में संगीत की अक्षुण्ण और अखंड धारा विद्यमान है, और अप्रत्यक्ष रूप में संपूर्ण वायुमंडल ही संगीतमय है।

भारतीय संगीत के महान आचार्य मतंगमुनि ने अपने ग्रंथ बृहद्देशी में इस नाद की महत्ता का विशेष निरूपण किया है -

"न नादेन बिना गीतं, न नादेन बिना स्वरा:।
न नादेन बिना नृत्यं, तस्मान्नादात्मकं जगत् ।।"

अर्थात् - नाद के बिना कोई गीत नहीं, नाद के बिना कोई स्वर नहीं, और नाद के बिना कोई नृत्य भी संभव नहीं, अतएव संपूर्ण जगत् ही नादमय है।

भारतीय परंपरानुसार चराचर जगत् ही नाद से उत्पन्न हुआ है। बृहद्देशी में यह उल्लेख मिलता है -

"ध्वनिर्योनि: परा ज्ञेया, ध्वनि: सर्वस्य कारणम्।
आक्रान्तं ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।।"

अर्थात् - अखिल जगत् की उपस्थिति का कारण नाद (ध्वनि) ही है। नाद ही जगत् में व्याप्त है, वही परायोनि है।

संगीत रत्नाकर में उल्लेख मिलता है -

"चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना ।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीय मुपास्महे ।।"

अर्थात् - नाद ब्रह्म समस्त भूतों का चैतन्य है, उनसे पृथक चराचर प्रपंच

की प्रतीति अविद्या के कारण होती है। आनन्दरूप नाद उपास्य है।

अन्य उल्लेख के अनुसार -

"नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः ।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः ।।"

- बृहद्देशी ।। 17 ।।

"नादोपासनया देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः ।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ।।"

- सं० रत्नाकर प्रथम खंड, पृ. 63

अर्थात् - ब्रह्मा, विष्णु पराशक्ति एवं महेश्वर नाद रूप हैं। इनके नादात्मक होने के कारण नाद की उपासना से ही इनकी उपासना भी स्वतः हो जाती है।

नाद को संगीत में अनन्य महत्व दिया जाता है। इसे नाद ब्रह्म कहा जाता है, जो संगीत का मूलाधार है। ब्रह्म ईश्वर की भाँति नाद भी सर्वव्याप्त है। यह ब्रह्मांड ही नादमय है, जो संगीत का प्राण है।

संगीत दर्पण में दामोदर पंडित ने लिखा है -

"नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वच: ।

वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।"

अर्थात् - नाद के योग से वर्णोच्चार होता है, वर्ण से पद ‡शब्द‡ की सिद्धि होती है। पद से भाषा होती है तथा भाषा के होने से ही जगत् का सब व्यवहार चलता है। अतएव यह संपूर्ण जगत् ही नाद के अधीन है।

संगीत को सुखप्रद नाद विशेष की संज्ञा दी गई है। विद्वानों में मान्यता है कि सच्चिदानन्द ईश्वर की सृष्टि है आकाश तथा "नाद" इसी आकाश का गुण है। आकाश और उसके गुण "नाद" में ईश्वर का स्वरूप अन्य विषयों से अधिक परिमाण में विकसित परिलक्षित होता है। इसी लिये यह अनुभव किया जाता है कि इन्द्रियजन्य विषय सुखों में से श्रवण द्वारा किये जाने वाले संगीत में अन्य सुखों की तुलना में अधिक सुख की प्राप्ति होती है।

मानव शरीर में एक चेतना का स्थान है, जिसे हृदय कहते हैं तथा यही ईश्वर का निवास माना जाता है। इसी हृदय में आघात के बिना एक नाद का आविर्भाव सतत् होता रहता है, जिसे अनाहत नाद कहते हैं। मन और इन्द्रियों के बाह्य विषयों में आसक्त होने के

कारण प्राय: साधारण लोग इसे नहीं सुन पाते। कहते हैं साधक योगियों को ही यह सुनाई पड़ता है। वैसे इन्द्रियों को बाह्य विषयों से खींचकर व्यक्ति के अन्तर्मुख होने पर इसे अनाहत नाद को सुना जा सकता है। शास्त्रों के अनुसार यह नाद इतना श्रुति मधुर होता है कि उसे सुनने के बाद मन किसी अन्य विषय में रम नहीं सकता। हृदय में आनन्दस्वरूप ईश्वर का आविर्भाव होने से उस आनन्दस्वरूप की छाया "अनाहत" नाद में पड़ती है। इसी लिए अनाहत नाद आनन्दजनक होता है। यह योगियों को ही साध्य होता है।[1]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार - व्याकरण की दृष्टि से नाद का जो रूप निरर्थक है, वह भी भाव व्यंजना करता है। तिर्यक् योनि में उत्पन्न प्राणी अपने भावों की अभिव्यक्ति नाद के द्वारा ही करते हैं। भाषा भले ही कभी-कभी ठीक-ठीक मनोभावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो, परन्तु नाद कभी असफल नहीं होता। हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियों को व्यक्त करने वाले नाद रूप सार्वभौम है, वे भाषा की भाँति एकदेशीय नहीं।

हृदयाकाश के नाद के अतिरिक्त शेष सभी नाद आहत नाद है। संगीत का नाद भी "आहत नाद" ही है। संगीतोपयोगी ध्वनि को

---

1 संगीत शास्त्र, के० वासुदेवशास्त्री, पृ. 9.

नाद कहते है। क्योंकि विश्व के किसी भी देश का संगीत और विशेषकर भारतीय संगीत का मूलाधार है स्वर और लय। मुख्य रूप से यह ध्वनि पर अवलंबित है, जिन्हें संगीत में नाद कहा गया है।

संगीत रत्नाकर में उल्लेख है -

"नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ।।"

- संगीत रत्नाकर प्रथम भाग, श्लोक 6

अर्थात् - नाद शब्द में "न" प्राण (वायु) वाचक और "द" अग्नि वाचक है। वायु और अग्नि के संयोग से ही नादोत्पत्ति होती है।

नाभि के उर्ध्व भाग हृदय स्थान से प्राण नामक वायु ब्रह्मरंध्र में जो शब्द करता है, उसे नाद कहते हैं। गीत, वाद्य और नृत्य नादाधीन माने जाते हैं।[1]

नाद के दो प्रकार माने जाते हैं -

1. आहत नाद, तथा
2. अनाहत नाद।

---

1 नादाधीनमतस्त्रयम् - दामोदर पंडित, संगीत दर्पण, प्रथम अध्याय, पृ.

आहत नाद -

संगीत विद्वानों ने आघात, स्पर्श तथा घर्षण से उत्पन्न उन ध्वनियों को आहत नाद माना है जो मधुर, रंजक, कर्णप्रिय, दुःखभंजक तथा ठहरावयुक्त होने के साथ-साथ संगीतोपयोगी भी होती है। इनके अतिरिक्त अन्य ध्वनियां आहत नाद के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती।[1]

अनाहत नाद -

आघात के बिना जिस नाद का आविर्भाव होता है उसे अनाहत नाद कहते हैं। यह नाद मुक्तिप्रद होता है, रंजक नहीं, जिसकी उपासना मुनिजन करते है।[2]

श्रुति

सामान्यतया श्रवण योग्य ध्वनियों को श्रुति कहा जाता है। संगीत शास्त्र की परिभाषानुसार श्रुति उस ध्वनि को कहते हैं, जो गीत में

---

1 आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगदद्यते।
- शाङ्गदेव - संगीत रत्नाकर, भाग-1, पृ. 212.

2 "तत्राऽनाहतनादं तु मुनयः समुपासते।
गुरूपदिष्ट मार्गेण मुक्तिदं न तु रंजकम्।।"
- दामोदर पंडित - संगीत दर्पण, पृ. 15.

प्रयुक्त की जा सके और उच्चारण के समय जिसकी स्पष्ट रूप से अलग-अलग पहचान की जा सके। श्रुति वस्तुतः उस नाद-ध्वनि को कहते हैं जिसे एक दूसरे से अलग और स्पष्ट रूप से पहचाना जा सके। जब नाद ध्वनि के उच्चारण में बहुत अधिक अन्तर दृष्टिगत हो तभी वह ध्वनि श्रुति कहलाती है।

संगीत में रागों का अनन्य महत्व है तथा राग के स्वरूप ज्ञान में विभिन्न संगीत शास्त्रीय तत्वों का ज्ञान आवश्यक है। इन तत्वों में श्रुति की महत्ता सर्वोपरि है। क्योंकि संगीत में श्रुति से स्वर की उत्पत्ति होती है, स्वर से ग्राम की, ग्राम से मूर्च्छना की, मूर्च्छना से जाति की तथा जाति से राग उत्पन्न हुआ माना जाता है।

पाणिनी ने नादोत्पत्ति के लिये जो प्रक्रिया का उल्लेख किया है उसे संगीतशास्त्रीय नादोत्पत्ति का भी आधार माना जा सकता है -

"आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनोयुंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम्।।
मारूतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनमति स्वरम्।।[1]

---

1 पाणिनीय शिक्षा, पृ. 6-7.

अर्थात् - आत्मा बुद्धि से युक्त होकर किसी विषय को ग्रहण करने के लिये मन को प्रेरित करती है, मन शरीर में रहने वाली अग्नि का जगाता है और वह अग्नि वायु को प्रेरित करती है, पुनः वायु मन्द्र रूप से हृदय में स्वर उत्पन्न करता है। क्योंकि हृदय के भीतर उर्ध्व नाड़ी में 22 वक्र (तिरछी) नाड़ियां मानी जाती हैं, जिन पर वायु का आघात होने पर 22 प्रकार की उच्चतर ध्वनियां उद्भूत होती हैं। इसी प्रकार कंठ में इनके दुगुने प्रमाण की 22 और ध्वनियां उत्पन्न होती है और उनसे भी दुगुने प्रमाण की 22 ध्वनियां सिर में उत्पन्न होती है। इन्हीं ध्वनियों को संगीत शास्त्र की भाषा में श्रुतियां कहा जाता है। इन्हीं तीनों ध्वनि समूहों को ही क्रमशः मन्द्र, मध्य और तार कहा जाता है। इन्हें क्रमशः सूक्ष्म, पुष्ट और अपुष्ट संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। ये ध्वनि समूह शरीर रूपी वीणा में क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं। इस प्रकार तीन भेद से हमारे शरीर में 66 प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न हो सकती है। श्रुतियां संगीत का मूल आधार होती है। स्वर की शुद्ध और विकृत अवस्थाओं को और उनके परस्पर अन्तर को ये श्रुतियां ही स्पष्ट करती हैं। ग्रामों के लिये ये श्रुतियां ही आधारभूत तत्व मानी जाती है।

आचार्यों ने श्रुतियों को बाईस भेदों में बांटा है। स्वरमेलकलानिधि में 22 श्रुतियों के बारे में कहा गया है कि हृदय स्थान में बाईस प्रकार की नाड़ियां होती है, उनके सभी नाद

स्पष्ट रूप से सुने जा सकने के कारण ही इनको श्रुति कहा जाता है। यही नाद के बाईस भेद है। इनके अनुसार -

"तस्य द्वाविंशतिर्भेदः श्रवणात् श्रुतयो मताः ।
हृदयाभ्यन्तरसंलग्नाः नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः ।।"[1]

इन्हीं 22 श्रुतियों पर शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना की गई है। वैसे श्रुति और स्वर के आपसी संबंध को प्रकट करने के लिये चतुःसारणा प्रक्रिया का भी उल्लेख भरत ने किया है।

आचार्य भरत ने श्रुति-स्वर संबंध पर कहा है कि स्वर कई श्रुतियों का मेल है और श्रुति एक अलग इकाई। कुछ स्वर चार श्रुति वाला है, कुछ तीन और कुछ दो। संगीत पारिजात में पं० अहोबल ने श्रुति और स्वर के संबंध में कहा है कि जिसे सुना जा सकता है उसे श्रुति कहते हैं। स्वर और श्रुति में उसी प्रकार भेद होता है, जिस प्रकार भेद सर्प और कुंडली में होता है। बाईस श्रुतियों में से जो श्रुतियां किसी राग में प्रयोग करने योग्य होती हैं उन्हें स्वर कहते हैं।

---

1 कालीदास साहित्य, एवं संगीत कला : डॉ0 सुषमा कुलश्रेष्ठ, पृ.31.

संगीत विशारद में उल्लेख है -

> "श्रुतयः स्युः स्वराभिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना।
> अहिकुण्डलवत्तत्र भेदोक्तिः शास्त्रसम्मता।।
> सर्वाश्च श्रुतयस्तत्तद्रागेषु स्वरतां गताः ।
> रागाः हेतुत्व एतासां श्रुतिसंज्ञैव सम्मता।।"

संगीत दर्पण में दामोदर पंडित ने उल्लेख किया है कि श्रुति उत्पन्न होने के बाद जो नाद तुरन्त निकलता है और प्रतिध्वनित होकर मधुर एवं रंजक हो जाता है उसे स्वर कहते हैं तथा जो नाद स्वयं ही शोभित होता है तथा जिसे किसी नाद की अपेक्षा नहीं होती है, उसे श्रुति कहते हैं।

<u>विवरणानुसार</u> -

> "श्रुत्यन्तरभावित्वं यस्यानुरणनात्मकः ।
> स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वर इत्यभिधीयते।।
> स्वयं यो राजते नादः, स श्रुतिः परिकीर्तितः।"[1]

---

1 संगीत विशारद, श्री बसंत, पृ. 47.

आचार्य बृहस्पति के अनुसार -

"रंजक अथवा अरंजक अनुरणनात्मक ध्वनि श्रुति है। जब वह रंजक होती है, तब वह स्वर कहलाती है, अर्थात् जो ध्वनि रंजक है, वह रंजक होने के कारण स्वर है, क्योंकि स्वर शब्द का अर्थ ही स्वतः रंजन करने वाली ध्वनि है, वही ध्वनि कर्णगोचर अथवा श्रवणीय होने के कारण श्रुति भी है। यदि वह ध्वनि रंजक नहीं है, तो वह स्वर नहीं है, परन्तु श्रवणीय होने के कारण श्रुति तो है ही।"

भरत ने एक स्थान पर श्रुतियों को नौ संख्या वाला भी कहा है -

"द्विकास्त्रिकचतुष्कास्तु ज्ञेया वंशगताः स्वराः ।
इति तावन्मया प्रोक्ताः सवंशश्रुतयो नव ।।"[1]

तथापि प्रारंभ से ही सर्वस्वीकार्य मान्यतानुसार बाईस श्रुतियां ही मानी जाती है तथा संगीत शास्त्र की मान्यता के अनुसार ही चूंकि

---

1 कालीदास साहित्य एवं संगीत कला : डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ, पृ. 31.

इन्हीं श्रुतियों से स्वर की उत्पत्ति हुई है, श्रुतियों पर ही स्वरों की स्थापना की गई है, अतः श्रुति एवं स्वर के बीच एक निश्चित संबंध भी स्थापित किया जाता है। यह स्वरान्तराल के रूप में व्यक्त होता है। स्वरान्तराल तीन प्रकार के माने गये हैं -

चतुः श्रुति, त्रिश्रुति और द्विश्रुति। इन्हीं चार, तीन और दो संख्या जोड़ने पर नौ की संख्या बनती है। संभव है भरत ने इसी एक जोड़ की नौ संख्या का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर ही आचार्य ने शाङ्‌गदेव ने श्रुतियों के 22 भेदों को परिगणित किया है। जिसके अनुसार षडज, मध्यम और पंचम स्वरों में चार-चार श्रुतियां, दो-दो श्रुतियां निषाद और गंधार में तथा तीन-तीन श्रुतियां ऋषभ और धैवत में होती है -

"चतुश्चतुश्चतुश्चैव षडजमध्यमपंऽचमाः ।
द्वे द्वे निषादगंधारौ त्रिस्तो ऋषभधैवतौ।।"

इस प्रकार एक स्वर सप्तक में चार श्रुत्यांतर वाले तीन तथा तीन श्रुत्यांतरों एवं दो श्रुत्यांतर वाले दो-दो स्वरों की कुल श्रुतियों को मिलकार बाईस श्रुतियां बनती है। इन श्रुतियों को पांच जातियों में विभक्त किया गया है, जो इस प्रकार हैं -

1. दीप्ता
2. आयता
3. करूणा
4. मृदु, और
5. मध्या।

मान्यता प्राप्त 22 श्रुतियां, उनके नाम, जाति तथा प्राचीन मध्यकालीन परंपरानुसार शुद्ध स्वर स्थान के संबंध में वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है -

श्रुति संख्या	श्रुति का नाम	श्रुति की जाति	स्वर नाम
1	तीव्रा	दीप्ता	
2	कुमुद्वती	आयता	
3	मन्द्रा	मृदु	
4	छन्दोवती	मध्या	षडज
5	दयावती	करूणा	
6	रञ्जनी	मध्या	
7	रक्तिका	मृदु	ऋषभ
8	रौद्री	दीप्ता	
9	क्रोधा	आयता	गंधार

श्रुति संख्या	श्रुति का नाम	श्रुति की जाति	स्वर नाम
10	वज्रिका	दीप्ता	
11	प्रसारिणी	आयता	
12	प्रीति	मृदु	
13	मार्जनी	मध्या	मध्यम
14	क्षिति	मृदु	
15	रक्ता	मध्या	
16	संदीपनी	आयता	
17	आलापिनी	करूणा	पंचम
18	मदन्ती	करूणा	
19	रोहिणी	आयता	
20	रम्या	मध्या	धैवत
21	उग्रा	दीप्ता	
22	क्षोभिणी	मध्या	निषाद

स्वर

स्वर, भारतीय संगीत ही नहीं अपितु विश्व के सभी संगीत का मूलाधार

है। स्वर से ही राग और राग गायन का प्रारूप बनता है। चूंकि राग, स्वरों से ही बनता है अतः हम कह सकते हैं कि स्वर वह ध्वनि अथवा आवाज़ है, जो कानों को अच्छा लगे, चित्त को प्रसन्न करे। श्रुति के साथ स्वर जुड़ा हुआ है। ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि -

"श्रुत्यन्तरभावो यः शब्दोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयते श्रोतुश्चितं स स्वर ईर्यते।।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रुतियों को लगातार उत्पन्न कराने से स्वर उत्पन्न होता है। शब्द का अनुरणनित रूप ही स्वर कहलाता है। अनुरणन में ही स्वरगत श्रुतियां प्रकाशित होती है। श्रुतियां ही रंजकत्व गुण को प्राप्त करके स्वर हो जाती है।

बाईस श्रुतियों के आधार पर ही सात स्वरों की कल्पना संगीत शास्त्रियों ने की है। आचार्य भरत के समय से ही इसका उल्लेख प्राप्त है कि स्वर सात हैं -

"षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारौ मध्यमस्तथा।
पंचमो धैवतश्चैव सप्तमश्च निषादवान।।"[2]

---

1 संगीत शास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, पृ. 14.

2 नाट्यशास्त्र, 28 वां अध्याय, पृ. 432.

अर्थात् - स्वर सात हैं - षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन्हें ही संक्षेप में सा, रे, ग, म, प, ध और नि कहते है। सातों स्वरों का समूह स्वर सप्तक कहलाता है, जिसमें प्रथमतः शुद्ध स्वर ही रहता है, जिसमें सा और प अचल स्वर कहा जाता है।

भरत भाष्यम् में प्राप्त उल्लेख के अनुसार वैदिक स्वर संज्ञाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नाम प्राप्त होते हैं। व्याकरणशास्त्र में भी इनके नाम मिलते हैं। इसी लिये विकासवादी विचारधारा के अनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारंभिक काल में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये तीन संज्ञायें व्याकरणशास्त्र की है, बाद में संगीत शास्त्रकारों ने इनको ग्रहण कर लिया। ऋचाओं को जब सामगीतों के रूप में गाने लगे तब गद्य स्वराघातों की उच्च-नीचता सांगीतिक उच्च-नीचता में परिणत हो गई।[1]

विद्वानों की एक अन्य मान्यतानुसार उदात्त, अनुदात्त स्वरित - ये तीन प्रधान स्वर संज्ञायें हैं, जो स्वर की स्थिति स्पष्ट करते हैं, जो उनके अनुसार उदात्त-उच्च अनुदात्त - नीच और स्वरित - तीन स्वर प्रधान हैं अतः उच्च और नीच का तात्पर्य उदात्त, अनुदात्त ही होना चाहिये।

---

1 भरत भाष्यम्, भाग-1, टीकाकार चैतन्य देसाई, पृ. 24.

नारदीय शिक्षा के अनुसार[1] -

"स्वरो उच्च: स्वरो नीच: स्वर: स्वरित एव च।
स्वर प्रधानं त्रैस्वर्य व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ।।"

महर्षि पाणिनी के अनुसार -

"उच्चैरूदात्त: नीचैरनुदात्त:, समाहार स्वरित:।"

इसका भी अभिप्राय उदात्त का उच्च, अनुदात्त का नीच और स्वरित का समाहार अर्थात् दोनों का जोड़ यही भाव प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी उच्चादि स्वर संज्ञाओं का गांधर्व वेद में प्रयुक्त सप्तषडजादि स्वरों से सम्बन्ध स्वीकार किया है -

"उदात्ते निषाद गांधारावनुदात्त ऋषभ धैवतो।
स्वरित प्रभवा ह्वेते षडजमध्यम पंचमा: ।।"
गांधर्ववेदे ये प्रयुक्ता:, सप्तषड्जादय: स्वरा: ।

(ना. शि. 1/8/8)

यह भी कहा जाता है कि शास्त्रान्तर से उदात्त, अनुदात्त के अर्थ में

---

1 भारतीय संगीत शास्त्र, श्री तु. रा. देवांगन, पृ. 33.

अंतर हो सकता है क्योंकि व्याकरण शास्त्र में जहाँ स्वर से तात्पर्य अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि से है, वहीं संगीत शास्त्र में स्वर से तात्पर्य षडजादि सप्त स्वर से है।

नान्यभूपालकृत "भरतभाष्यम्" के शिक्षाध्याय में प्राप्त उल्लेख के अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा निघात, स्वरों के इन पांच भेदों में कुष्ट और अतिस्वार इन दो स्वर संज्ञाओं को मिलाकर सामवेद की मान्यतानुसार सप्त स्वरों की संख्या पूर्ण की। इसी ग्रन्थ के एक अन्य उल्लेख के अनुसार षडज को निघात, ऋषभ को अत्यनुदात्त, गान्धार को उदात्त, मध्यम को स्वरित पंचम को प्रचय, धैवत को अनुदात्त, तथा निषाद को अत्युदात्त बताया गया है।

नान्यभूपालकृत "भरतभाष्यम्" में वर्णित स्वरों की उत्पत्ति संबंधी उल्लेख के अनुसार "मेघ-गर्जन काल अर्थात् वर्षा ऋतु में मोर का षडज में, ऋषभ स्वर में सॉंड़ का दहाड़ना, बकरी का कामार्त काल में गांधार स्वर में, मदोन्मत्तकाल में क्रौंच का मध्यम में बोलना, बसंत ऋतु में कोयल का पंचम में, बसंत ऋतु में घोड़े का धैवत में, तथा क्रोध से लाल नेत्र गज का निषाद में गर्जन करने का उल्लेख है। इस कथनानुसार पशुओं-पक्षियों के कंठ से निकले ध्वनि का भावावेश की अवस्था या विशेष अवस्था से भी महत्वपूर्ण संबंध है। (भरतभाष्यम् अध्याय-3 श्लोक 17-21) क्योंकि यह तो निर्विवाद

सत्य है कि भावावेश एवं सामान्य अवस्था की कंठध्वनि में विशेष अन्तर होता है।

वेदों में प्राप्त उल्लेख के अनुसार स्वर प्रयोग के संदर्भित आर्चिनों गायन्ति, गाथिनो गायन्ति तथा सामिनो गायन्ति, ऐसा प्राप्त होता है, जिसके अनुसार आर्चिक संगीत में एक स्वर, गाथिक संगीत में दो स्वर तथा सामगान में तीन स्वरों के प्रयोग की परंपरा थी। बाद में विद्वानों के अनुसार महर्षि नारद इत्यादि लोगों के प्रयास से सातों स्वरों का प्रयोग होने लगा।

आर्चिक, गाथिक, सामिक ... इत्यादि के संदर्भ में अचार्य मतंग कृत बृहद्देशी के अनुसार सात प्रकार के स्वर का योग है -

1. आर्चिक
2. गाथिक
3. सामिक
4. स्वरांतर
5. औडव
6. षाडव, एवं
7. सम्पूर्ण।

इसी में आगे उल्लेख के अनुसार -

एक स्वर प्रयोगों आर्चिक: सोऽमिधीयते ।

गाथिको द्विस्वरोज्ञेयस्त्रिस्वरश्चैव सामिक: ।।

चतु:स्वर प्रयोगोहि कथितस्तु स्वरान्तर: ।।

अर्थात् - नारद के अनुसार सात प्रकार के स्वर योग है एक स्वर प्रयोग को आर्चिक, द्विस्वर प्रयोग को गाथिक, त्रिस्वर प्रयोग को सामिक, चतु:स्वर प्रयोग को स्वरान्तर कहते हैं। ओडव पांच स्वर प्रयोग, षाडव छ: स्वर प्रयोग तथा सात स्वर प्रयोग को संपूर्ण कहा जाता है। स्वरों के जाति गत प्रयोगों के आधार भिन्न-भिन्न रागों का निर्माण किया गया है।

स्वरों के संदर्भ में भरत काल में प्राप्त उल्लेख के अनुसार सात शुद्ध और दो विकृत स्वर की मान्यता थी। संगीत रत्नाकर के रचयिता पं0 शाड्.र्गदेव ने पहली बार समस्त मूर्च्छनाओं को सदेह मध्य सप्तक में स्थापित करते हुये दो से अधिक, कुल-बारह विकृत स्वरों की परिकल्पना की थी। बाद के ग्रंथकारों ने अपने अपने मतानुसार विकृत स्वरों की संख्या एवं नाम के बारे में उल्लेख किया है। आधुनिक काल तक आते-आते विभिन्न मान्यताओं के द्वारा प्रतिपादित विकृत स्वरों की संख्या-नाम के परिमार्जन के फलस्वरूप आज की मान्यतानुसार स्वरों के शुद्ध और विकृत दो रूप हैं और शुद्ध और विकृत के आधार पर कुल बारह (सात शुद्ध और

पाँच विकृत॥ स्वर हो जाते हैं।

अचल स्वर अपने स्थान से हटते नहीं अपरिवर्तित रहते हैं, जबकि अन्य पाँच स्वर परिवर्तित होते हैं, अतः चल स्वर या विकृत स्वर कहलाते है। इन पाँच विकृत स्वरों में से रे, ग, ध, नि अपने शुद्ध स्थान से नीचे की ओर हटते हैं, अतः वे कोमल स्वर कहलाते हैं, यथा - कोमल रे, कोमल ग, कोमल ध एवं कोमल नि। जबकि मध्यम स्वर अपने शुद्ध स्थान से ऊपर की ओर हटता है, तब वे तीव्र विकृत कहलाते हैं। जैसे - तीव्र -म। आजकल जबकि भारतवर्ष में उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय संगीत नाम से दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं तथापि दोनों पद्धतियों में कुल मिलाकर बारह स्वर ही प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि कि दोनों पद्धतियों के स्वरों के कुछ नाम, शुद्ध, विकृत की स्थिति इत्यादि में अन्तर भी परिलक्षित होता है। जो इस प्रकार उल्लेखनीय है -

उत्तरी और दक्षिणी संगीत पद्धति के स्वरों का तुलनात्मक विवरण

क्रम संख्या	उत्तरी संगीत पद्धति के स्वर	व्यंकटमखी के स्वर	राग लक्षण के स्वर
1	षडज	षडज	षडज
2	कोमल ऋषभ	शुद्ध ऋषभ	शुद्ध ऋषभ

क्रम संख्या	उत्तरी संगीत पद्धति के स्वर	व्यंकटमखी के स्वर	राग लक्षण के स्वर
3	शुद्ध ऋषभ	पंचश्रुति ऋषभ या शुद्ध गान्धार	चतु:श्रुति ऋषभ या शुद्ध गान्धार
4	कोमल गान्धार	षट्श्रुति ऋषभ या साधारण गान्धार	षट्श्रुति ऋषभ या साधारण गान्धार
5	शुद्ध गान्धार	अन्तर गान्धार	अन्तर गान्धार
6	शुद्ध मध्यम	मध्यम	मध्यम
7	तीव्र मध्यम	प्रति मध्यम या वराली मध्यम	प्रति मध्यम या वराली मध्यम
8	पंचम	पंचम	पंचम
9	कोमल धैवत	शुद्ध धैवत	शुद्ध धैवत
10	शुद्ध धैवत	पंचश्रुति धैवत या शुद्ध निषाद	चतु:श्रुति धैवत या शुद्ध निषाद
11	कोमल निषाद	षट्श्रुति धैवत या कौशिक निषाद	षट्श्रुति धैवत या कौशिक निषाद
12	शुद्ध निषाद	काकली निषाद	काकली निषाद

लय एवं ताल

लय एवं ताल की अवधारणा संगीत में उतनी ही पुरानी है, जितना कि स्वयं संगीत की पुरातनता तथा सृष्टि की पुरातनता। संगीत की व्याख्या के साथ-ही-साथ लय-ताल की व्यवस्था हमारे ग्रंथों में प्रारंभ से ही प्राप्त होती है। वस्तुतः लय एक अखंडित, व्यापक तथा नैसर्गिक क्रिया है, जो सृष्टि के उद्भव काल से ही सृष्टि की प्रायः प्रत्येक सजीव गतिविधि में संगीत के साथ-ही व्याप्त है। कहते हैं यदि कहीं लय का अभाव होने लगता है तो प्रलय की संभावना बढ़ने लगती है।

लय का अर्थ होता है, लीन होना या विश्रांति, लय तो सृष्टि की गतिविधि का प्राण है। विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि प्रायः प्रत्येक गति या उच्चारण में स्वर के साथ-साथ लय भी सन्निहत है। नाट्यशास्त्रानुसार -

"कलाः कालकृतोलयः"

अर्थात् - लय कला के काल से बनता है।

संगीत रत्नाकर के अनुसार -

"क्रियानन्तर विश्रान्तिर्लयः"

अर्थात् - ताल क्रिया के अनन्तर (प्रथम ताल क्रिया के बाद अगली ताल क्रिया करने के बीच का समय) किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है।

अमरकोष की व्याख्या के अनुसार

"तालः कालक्रियामान् लयः साम्ययथास्त्रियाम्।"

अर्थात् - ताल में काल एवं क्रिया की जो साम्यता होती है, उसे लय कहते हैं।

एक अन्य परिभाषानुसार

"विश्रांतियुक्तया काले क्रिया मान मिव्यते।
क्रियानन्तर विश्रान्ति लयः।।"

अर्थात् - विश्रान्तियुक्त क्रिया के द्वारा काल का मान अर्थात् माप होता है। क्रिया के अनन्तर अर्थात् बिल्कुल साथ होने वाली विश्रांति लय है।

जगदेव मल्लकृत संगीत चूड़ामणि के अनुसार -

"तालान्तरालवर्त्ती यः कालो सौलयनाल्लयः ।"

तात्पर्य सबका एक ही है एक मात्रा या ताल क्रिया के बाद दूसरी मात्रा का ताल क्रिया के बीच के समय को या विराम विश्राम को लय कहते हैं।

लय तीन प्रकार के होते हैं - द्रुत, मध्य व विलंबित, जो ताल क्रिया की भिन्न-भिन्न गति के आधार पर परिभाषित होते हैं। वस्तुतः प्रयोग धारणा के अनुसार एक क्रिया और दूसरी क्रिया के बीच का काल जो पहली क्रिया का विस्तार है, वही लय है। इसी विस्तार के कम या अधिक होने से लय तेज या मंद हो जाती है। यदि दो क्रियाओं के बीच का विस्तार कम हो तो लय द्रुत होती है, जो विस्तार के अपेक्षाकृत बढ़ने से क्रमशः मध्य या विलंबित होती जाती है। लयों में द्रुत, मध्य व विलंबित तीनों परस्पर एक दूसरे से संबंद्ध तथा एक दूसरे पर आश्रित हैं। इनमें से किसी एक को आधार मानकर ही शेष दो का निर्णय संभव है, स्वतंत्र रूप से नहीं।

शास्त्रों में तीन लयों के बारे में व्याख्या मिलती है -

"क्रियानन्तर विश्रांति लयः स त्रिविधो मतः।
द्रुतो, मध्यो, विलम्बश्च, द्रुतः शीघ्रतमो मतः।।
द्विगुण द्विगणौ ज्ञेयौ, तस्मान्मध्य विलम्बितौ।।"

जब लय को कालबद्ध कर दिया जाता है तब वह ताल का स्वरूप ले लेता है।

आचार्य भरत के अनुसार -

तालोघन इति प्रोक्तः कलापात लयान्वितः।
कलातस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं तालयोक्तभिः ।।"[1]

अर्थात् - कला, पात और लय से युक्त जो काल का विभाग या परिणात्मक प्रमाण है, वह ताल कहलाता है।

संगीत में प्रयोग के अवसर पर जब ताल का व्यवहार होता है तब उसे समय के परिमापक "काल" कहा जाता है। संगीत में काल ॥समय॥ का भाग जो कला, पात और लय से युक्त है वह "ताल" नाम से जाना जाता है, उसका कार्य है संगीत को मापना। संगीत में "ताल" शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रकारों के अनुसार इस प्रकार है -

"प्रतिष्ठार्थक "तल" धातु के पश्चात् अधिकरणार्थक "घ्"
प्रत्यय लगाने से ताल शब्द बनता है। क्योंकि गीत

---

1 भारतीय संगीत शास्त्र, श्री तु.राम. देवांगन, पृ. 171.

वाद्य, नृत्य ताल में प्रतिष्ठित होते है। ताल की उत्पत्ति "तल" धातु से हुई मानी जाती है, जिसका अर्थ होता है - नींव, बुनियाद।"

भरतनाट्यशास्त्र के 31 वें अध्याय में इस प्रकार वर्णन है -

"वाद्यं तु यद्घनं प्रयोक्तं कला पात लयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणंहि विज्ञेयं ताल योगतः ।।"

अभिनवगुप्त आचार्य के अनुसार -

"गायन, वादन तथा नृत्य में जो लयान्वित सशब्दा या निःशब्दा क्रिया होती है, उसके काल प्रमाण को ही "ताल" कहते हैं।"

संगीत रत्नाकर में प्राप्त उल्लेख के अनुसार -

"तालस्तल प्रतिष्ठायामिति, धातोर्घञ्जिस्मृतः ।
गीत वाद्यं तथा नृत्यं यत स्ताले प्रतिष्ठतम्।।"

संगीत रत्नाकर के टीकाकार सिंह भूपाल के अनुसार -

"तल्यते प्रतिपाद्यते गीतं वाद्यं यस्मिनिति।"

-गीतादि को जिस काल के प्रमाण में बैठाया जाये वही "ताल" है।

लघु, गुरू, प्लुत से युक्त सशब्द और निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य तथा नृत्य को परिमित करने वाला समय ‡काल‡ 'ताल' कहलाता है।

आचार्य शैलालि के अनुसार "नट" के पद को तल कहा जाता है तथा उसी से उत्पन्न होने के कारण भावार्थ में अण् प्रत्यय लगाकर 'ताल' शब्द निष्पन्न होता है।

संगीत दर्पण के अनुसार ताल का "ता" शंकर और "ल" पार्वती या शक्ति का द्योतक है।[1]

तबला वादन के क्षेत्र में मर्मज्ञ विद्वान कलाकार प्रो० लाल जी श्रीवास्तव जी के अनुसार जो उन्होंने अपने गुरूवर की भावना के माध्यमानुसार अवगत कराई है -

"संगीत में तत्व का "त" तथा लक्ष्य का "ल" को मिलाकर "ताल" शब्द का व्यापक निरूपण किया

---

1 तकारे शंकरः प्रोक्तो लकार पार्वती स्मृता।
शिवशक्ति समायोगात्ताल नामाभिधीयते।।
द्रष्टव्य : भारतीय संगीत शास्त्र, श्री तु.रा. देवांगन, पृ. 173.

जाता है।"

संगीत में जैसे स्वर की आवश्यकता है वैसे ही ताल की भी आवश्यकता है। विद्वानों में ऐसा विचार है कि संगीत ही क्या जीवन के हर क्षेत्र में लय एवं ताल का अनन्य महत्व है। इसके साथ ही यह मनोवैज्ञानिक कारक भी बताया जाता है कि मनुष्य जब चलना सीखा होगा तब एक पांव रखने के बाद दूसरे पांव के रखने में जो स्वाभाविक समय का अंतर महसूस किया होगा, उस अंतर में निहित लय को समझने के बाद ही वहीं से लय के विविध रूप एवं काल सीमा में परिमित करते हुये ताल की रचनात्मक प्रक्रिया की कल्पना शुरू की होगी। यह सहज अनुभव हुआ होगा कि श्वांस की स्वाभाविक लयबद्धता, धड़कन नाड़ी की गति का निश्चित काल चक्र, सूर्योदय-सूर्यास्त के कालखंड तथा ऋतु परिवर्तन की नियमितता, सभी लय कालबद्ध हैं और लय-ताल की अनिवार्यता, अखंडता तथा समतुल्यता स्वतः सिद्ध करते हैं। इन सारे नियमितता में यदि किंचित कहीं खंडन आता है तभी असामान्य की सी स्थिति उत्पन्न होने लगती है।

संगीत शास्त्र में भी ताल-लय की महत्ता का उल्लेख किया गया है। आचार्य भरत के अनुसार -

"यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।"

अर्थात् - ताल ज्ञान के बिना गायक या वादक होना संभव नहीं है। गांधर्व को स्वर ताल पदात्मक कहा जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार -

"वीणा वादन तत्वज्ञः ... श्लोक में
"तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग प्रयच्छति" कहकर ताल का
ज्ञाता होना भी आवश्यक माना है, जो मोक्षमार्ग
के लिये हितकारी है।"

सोमेश्वर विरचित "मानसोल्लास" के अनुसार[1] -

"न तालेन बिना गीतं न वाद्यं ताल वर्जितम्।
न नृत्यं तालहीनं स्यादत् तालो त्र कारणम्।।"

अर्थात् - ताल के बिना गीत, वाद्य, नृत्य तीनों की कल्पना नहीं की जा सकती है, अतः ताल तीनों का कारण है।

पार्श्वदेव के 'संगीत समय सार' के अनुसार -

"ताल मूलानि गेयानि ताले सर्व प्रतिष्ठितम्।
ताल हीनानि गेयानि मन्त्रहीना यथाहुतिः।।"

---

1 भारतीय संगीत शास्त्र, श्री तु. रा. देवांगन, पृ. 173.

अर्थात् - ताल हीन गेय, मंत्रहीन आहुति जैसे है, क्योंकि गेय ताल मूलक होते हैं। ताल में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

ताल की महत्ता को प्रतिपादित करते हुये पं0 अहोबल ने "संगीत पारिजात" में लिखा है -

"अथ ताल प्रवक्षामि कालरूपं जगद्धरम् ।
जनयन्तं सुखं गीते वाद्य नृत्य विशेषत: ।।

उत्पत्यादि त्रयं लोके येन तालेन जायते।
कीटकादि पशूनां च ताले नैव गतिर्भवेत्।।

यानि कानि च कर्माणि लोकेतालश्रितानि च ।
आदित्यादि ग्रहाणां च काले नैव गतिर्भवेत ।।

ब्रह्मकल्योऽपि तालेन यत: कालवशं गत: ।
काल क्रिया परिच्छिन्न स्तालशब्देन मण्यते।।[1]

अर्थात् - संसार को धारण करने वाले ताल का मैं वर्णन करता हूँ ।

गीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा श्रोताओं का रंजन, उपत्यादि तीनों लोकों की उत्पत्ति, कीटकादि पशुओं की गति तथा इनके कर्मादि लोक, आदित्यादि नक्षत्रों की गति तथा ब्रह्मकल्प ‌(ब्रह्मा की आयु) ताल के ही वश में हैं। क्रिया परिच्छिन्न काल को 'ताल' कहते हैं।

पं० अहोबल ने ताल को काल परिमापक मानकर प्रस्तुत संदर्भ में उसे व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार नाद को संपूर्ण जगत् में व्याप्त रहने के कारण ब्रह्म कहा गया है, उसी प्रकार काल को भी लय और ताल के रूप में संपूर्ण संसार में, सृष्टि में व्याप्त रहने के कारण ब्रह्म कह सकते हैं। संगीत में काल मापने के साधन को ही तो ताल की संज्ञा दी गई है।

नाद, स्वर, श्रुति के समतुल्य, काल, लय तथा ताल भी ब्रह्मस्वरूप इस अखिल सृष्टि की व्यापकता में शामिल हैं, जो भक्ति व अध्यात्म्य के मार्ग में साधना कर्म में साध्य के रूप में प्रारंभ से समविष्ट हैं। संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न अवधारणाओं एवं स्वरूप के तहत इनके अलग-अलग स्वरूप परिलक्षित अवश्य होते हैं तथापि इनकी मूल आत्मा एक है, सुदृढ़ है। जिनके बिना संगीत संसार की कल्पना नहीं की जा सकती है।

संगीत एवं कला

मानव जीवन में आनन्द की अनुभूति की संपूर्णता के निमित्त ईश्वर ने जिन उपादानों को प्रदान किया है, उनमें संगीत एवं साहित्य का अनन्य स्थान है। विद्वानों ने कहा भी है कि सुखानुभूति के अपरिहार्य अंग है, संगीत और साहित्य। सुख और दुःख जीवन के दो अंग है और इसी प्रकार संगीत-साहित्य तथा कला से पृथक् मानव जीवन की संपूर्णता की बात ही नहीं कही गई है। क्योंकि भर्तृहरि के अनुसार कहा गया है -

"साहित्य संगीत कला विहीन: ।
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीन: ।।"

साहित्य और संगीत अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्व के संरक्षण के साथ ही बहुत कुछ अंशों में परस्पर पूरक, सहोदर तथा अन्योन्याश्रित है। संगीत अर्थ बोध के लिये काल का सहारा लेता है और काव्य प्रभाव वृद्धि के लिये संगीत का। विद्वानों ने यह सत्य ही कहा है कि संस्कृति और कला के साम्य की भांति कलाओं के अन्तर्गत संगीत और काव्य में घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि संगीत आकार प्रधान काव्य है और काव्य सार्थक संगीत है। संबंध जो भी हो कालान्तर्गत दोनों के मूल तत्व आनन्दानुभूति से ही जुड़े है तथा कला के ही अलग-अलग अंग हैं।

जहां तक कला का प्रश्न है, कला की व्याख्या अपने आप में एक विहंगम विषय है, क्योंकि कला के संबंध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अलग-अलग रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस संबंध में प्राचीन विद्वानों ने भी विशिष्ट व्याख्या प्रदान की है।

संस्कृताचार्यों में दण्डी में कामोददीपक नृत्य, गीतादि को कला कहा है।[1]

क्षेमराज के अनुसार -

"कलयतिस्वरूपं आवेशयति वस्तूनिवा।"[2]

- कला, वस्तु के रूप को सुशोभित करने या संवारने वाला एक माध्यम है।

अभिनवगुप्त के विचार में - "कला गीतवाद्यादिका।"[3]

---

1 "नृत्यगीतप्रभृतयः कलाकामार्थ संश्रयाः।" काव्यदर्श, दण्डी 3/162.

2 शिवसूत्र विमर्शिनी, क्षेमराज, द्रष्टव्य - शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, भाग-प्रथम, डॉ० गोविन्द, पृ. 33.

3 नाट्यशास्त्र 1/116, अभिनव भारती टीका, पृ. 42.

गीत, वाद्यादि अर्थात् गाना, बजाना एक कला है।

भोगराज के अनुसार -

"व्यंजयति कर्तृशक्तिं कलेतितेनेह कथिता सा।"

"कर्तृत्व शक्ति अभिव्यंजक होने के कारण कला कही जाती है।"

आचार्य मैथिली शरण गुप्त के अनुसार -

"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है।"

कवयित्री महादेवी वर्मा के अनुसार -

"कला सत्य की सहज अभिव्यक्ति का माध्यम है।"

डॉ० अरूण कुमार सेन के अनुसार -

"विचारों से जन्म होता है रूचि का और रूचि जन्म देती है, कला को।"

कला मानव-संस्कृति की उपज है। प्रकृति से संघर्ष करते हुये मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो सौंदर्य बोध प्राप्त किया है, कला में उसी का आविर्भाव है।

"कला" शब्द मानव की भावनाओं के लालित्य का प्रतीक है, आनन्द की अनुभूति ही कला का वास्तविक रूप है। चूंकि यह मानवीय भावनाओं से जुड़ा है और अपने को अभिव्यक्त करना प्रारंभ से ही मानव स्वभाव की विशेषता रही है, तभी किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है -

"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है, अर्थात् मानव मन में अंकित भावनाओं की अभिव्यक्ति की विविध विधियों का नाम ही कला है।"

"वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास, काव्य, चित्र, संगीत, शिल्प सभी कला के अंग है।"

"कला व्यापक है, विराट है।"

कला एक दैविक गुण है, मानवता के लिये वरदान है। कला ही मानव समाज में नैतिकता एवं सौंदर्य दृष्टि की दात्री है। कला सौंदर्य की प्रतीक एवं आत्मा की सच्ची पुकार है, कला आत्माभिव्यक्ति है।

"Art is attribute to man's own humanity."

"कला मनुष्य की, संपूर्ण मानवता को दिया हुआ एक अर्घ्य है।"

कविवर गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार -

"Art is spontaneous overflow of the innermost good feelings of man's heart."

"The art is all media of artistic self-expression through the language of words, Sound, lines and colours."

जिस अभिव्यंजना में आंतरिक भावों का प्रकाशन तथा कल्पना का योग रहता है, वह कला है। आधुनिक दृष्टि से कला को हम ऐसी क्रिया मान सकते हैं, जिसमें कल्पना द्वारा सृजन होता है और जिसके द्वारा आंतरिक अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से होती है।

संगीत एक ललित कला है। कला में लालित्य गुण होने के कारण कला को ललित कला के नाम से संबोधित करते हैं। ललित कला हमारी कोमल अनुभूतियों के प्रतीक स्वरूप हैं। जो अपने विशेष

गुणों द्वारा मानव हृदय की कल्पना की धाराओं को बहाता हुआ संसार को आनन्दमय बनाते हैं।

ललित कला में काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति एवं वास्तु पाँच कलायें आती हैं। भारतीय दृष्टि से इनमें तीनों कलाओं-संगीत, काव्य तथा चित्र की आत्मा एक मानी जाती है और इन कलाओं का लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति ही है, क्योंकि भारतीय कलाकारों, कवियों एवं चिंतकों की यह मान्यता रही है कि जिस कला की विश्रांति भोग में है, वह कला नहीं बंधन है, किन्तु जिसका लक्ष्य और संकेत परमतत्व की ओर है, वही कला, कला है।

"शिवस्वरूप विमर्शिनी" में क्षेमराज ने परमानन्द में लीन होने में सहायक कला को ही सर्वोत्तम माना है। इनके अनुसार -

"विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।[1]

पंच ललित कला में संगीत का यूं तो दूसरा स्थान है, किन्तु इसे किंचित सर्वश्रेष्ठ मानने की भी परंपरा है। कला में प्रयुक्त साधन की सूक्ष्मता के आधार पर ही श्रेष्ठता का निर्णय किया गया है और संगीत कला

---

1 भारतीय कला के पद-चिन्ह, डॉ० जगदीश गुप्त, पृ. 126.

का साधन तो नाद-ब्रह्म है, जिसे ईश्वर का स्वरूप कहा गया है। इसी सूक्ष्मता के कारण ही संगीत की उत्कृष्टता स्वत: सिद्ध हो जाती है। शोपेन हॉवर के अनुसार भी समस्त ललित कलाओं में संगीत को इसी लिये अधिक महत्व दिया गया है। विद्वानों में यह भी मान्यता है कि संसार में जितनी भी कलायें हैं, उन कलाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है -

(क) ललित कला,

(ख) उपयोगी कला।

यह भी मान्यता है कि ललित कलायें भी उपयोगी होती है तथा उपयोगी कलाओं में भी लालित्य होता है। वर्गीकरण जो भी हो, कलाओं की विश्रांति तो आनन्दानुभूति ही मानी गई है। हमारी कलायें अपने कलात्मक वैशिष्ट्य से मन-मस्तिष्क को आनन्दास्वादन की उस स्तरीय पृष्ठभूमि तक ले जाते हैं जो भौतिकता से कहीं ऊंची होती है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" भारतीय कलाओं का मूलभूत सिद्धांत है। सत्य और शिव के साथ सुन्दर का भी विशेष महत्व है। जो सत्य है वह शिव अथवा मंगलमय तो है ही साथ-ही-साथ सुन्दर भी है। सत्य, शिव और सुन्दर, इन तीनों शब्दों के द्वारा ब्रह्म को भी अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। अतएव ब्रह्म ही सत्य है और वह अखिल विश्व के लिये मंगलकारी एवं सौंदर्यमय है। व्यवहारिक दृष्टि से भी यह स्पष्ट होता है कि सत्य एवं शिव को प्राप्त करने

के लिये सर्वप्रथम सुंदर का ही आधार लिया जाता है। विद्वानों के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि भी यही स्पष्ट करते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की सत्यता तक पहुँचने के लिये सगुण ब्रह्म के सौंदर्य, माधुर्य युक्त स्वरूप का ध्यान आवश्यक है, तथा इस साधना के मार्ग में मानसिक चंचलता पर नियंत्रण करने के लिये तथा ईष्टदेव के स्वरूप का ध्यान करने हेतु गुरू के निर्देशन की आवश्यकता होती है। इस हेतु कला-ललित कला के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान "अरस्तु" इसे अनुकरण, प्लेटो इसे सत्य की अनुकृति, तथा क्रोचे प्रभाव की अभिव्यक्ति मानते हैं। टॉल्सटाय का कथन है कि हृदयोद्‌भूत भावनाभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द द्वारा दूसरे के हृदय तक पहुंचा देना - यही कला की प्रक्रिया है। जहाँ "फ्रायड" ने कला को हृदय की दबी हुई वासनाओं का उभरा हुआ रूप कहा है, वहाँ दान्ते इसे प्रकृति का अनुकरण मानते हैं।

कला, ललित कला, संगीत कला के कलात्मक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक भावाभिव्यक्ति एवं स्थिति के संदर्भित भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निष्कर्ष यही है कि कला चाहे कामार्थ संश्रया हो, नृत्य-गीतादि द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति हो, चाहे वस्तु रूप संवर्धक हो, चाहे कर्त्तव्य-शक्ति की अभिव्यंजक हो, चाहे आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति हो, चाहे भाव-संप्रेषणीयता सम्पन्न हो, चाहे मानव चेतना और बाह्य सृष्टि के रूपों की संश्लिष्ट हो,

चाहे रूचिजन्य हो, चाहे अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति हो, चाहे प्रेम और श्रेय तथा आदर्श और यथार्थ समन्वित प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति हो, चाहे अनुकरण हो, चाहे सत्य की अनुकृति हो, चाहे प्रभाव की अभिव्यक्ति हो, चाहे प्रकृति का अनुकरण हो - सभी प्रकार से कला भावोत्पादक आकर्षक अभिव्यक्ति मात्र ही है, अर्थात् कला सत्यं, शिवं, सुन्दरं की रसात्मकता से समन्वित अभिव्यक्ति है।

इन सभी परिवेश में ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्दर्शन के संदर्भित भारतीय संगीत ललित कलाओं में अपने भावाभिव्यक्ति एवं अन्त:संबंध के कारण यह सिद्ध करता है, संगीत अपने मूल तत्वों के साथ-साथ शब्द से रहित होकर भी भावाभिव्यक्ति में सफल होता है। क्योंकि यह मानव मन की अन्तर्अनुभूतियों के प्रकटीकरण में सर्वथा सक्षम है। जो मनोवैज्ञानिक परिदृश्य में भी अपनी प्रभावोत्पादक क्षमता का प्रदर्शन करती है।

अध्याय

चतुर्थ

अध्याय - चतुर्थ

राग एवं इसके विविध स्वरूप

"राग" भारतीय संगीत का आधारभूत विशिष्ट स्थानासीन अवयव है, जिसे भारतीय दर्शन और साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जहाँ तक भारतीय संगीत का प्रश्न है, नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर तथा स्वरों के विशिष्ट संयोग से राग की उत्पत्ति मानी जाती है। और राग संगीत ही संगीत के व्यक्त समस्त प्रकारों का आधार है। चूंकि सबके मूल में नाद है और नाद को अखिल विश्व में ब्रह्म का रूप माना गया है। सारा ब्रह्मांड ही विधाता की इच्छा शक्ति का अभिव्यक्त रूप है। अतः नाद के ही अधीन विश्व की सभी गतिविधियां हैं -

> "नादेन व्यज्यते वर्णः, पदं वर्णात् पदाद्वचः।
>
> वचसो व्यवहारोऽयं, नादाधीनमतो जगत् ।।"

अर्थात् - नाद के योग से वर्णों का उच्चारण होता है। वर्ण से पद [शब्द] की सिद्धि होती है, पद से भाषा होती है और भाषा के होने से ही जगत् के सब व्यवहार चलते हैं। इस प्रकार यह संपूर्ण जगत ही नाद के अधीन है।

संगीत दर्पण में नाद रूपी समुद्र के अपार स्वरूप का वर्णन इस प्रकार मिलता है -

"नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयातुंबं वहति वक्षसि ।। 32 ।।"

अर्थात् - नाद समुद्र का कोई आर-पार नहीं है, इसी कारण डूबने के भय से माँ सरस्वती भी तूंबा लिये नाद सागर पार करती हैं। नाद सागर में डूब जाने के भय से ही माँ सरस्वती भी अपनी वीणा में तूंबा लगाये हुई है। जब उनकी यह दशा है तो सामान्य संगीत साधक की कौन कहे।

"राग" भारतीय संगीत का अभिन्न अंग है। यह भारतीय संगीत के प्रदर्शन पक्ष का एक सशक्त अवयव एवं आवश्यकता के रूप में व्यक्त किया जाता है।

"राग" शब्द रञ्ज धातु से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ

है 'रंगना'। चित्त का किसी वृत्ति विशेष अथवा अवस्था विशेष में अधिष्ठान, यही रंगने का तात्पर्य होता है। राग का यही तात्पर्य भी होता है। मानव मन के अन्तर्भावों को स्वर एवं स्वर से संबंधित अवयवों के समावेश से जब भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अन्तर्गत रंगा जाता है तब, राग की सृष्टि होती है।

भारतीय संगीत में जिस जन चित्तक रंजक ध्वनि समूह विशेष की प्रतिष्ठा है, उस ध्वनि विशेष के वाचक को राग कहते हैं। पाणिनीय व्याकरण में दो स्थानों पर "रञ्ज रागे" - रंगने के अर्थ में "रञ्ज" धातु का प्रयोग बताया गया है। इसी धातु में भाव-वाचक संज्ञा, क्रिया का साधन के अर्थ "घ ं" प्रत्यय जोड़ने पर राग की सिद्धि होती है।[1]

शास्त्रों में कहा गया है -

"रंजयति इति रागः।"

प्रसिद्ध टीकाकार "कल्लिनाथ" ने मतंग का मत उद्धृत करते हुये लिखा है -

---

1 निबंध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 257.

"स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः ।
रंज्यते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम्।।"

अर्थात् - जिस स्वर-वर्ण-विशिष्ट ध्वनि भेद से मनुष्य रंग जाता है, वह सत्पुरूषों के अनुसार राग है।

वस्तुतः राग शब्द से ही उस भावमय वातावरण का बोध होता है, जहाँ माधुर्य व आनन्द के अतिरेक के सिवा कुछ भी नहीं होता। राग से रागात्मक संबंध का भी बोध होता है। भरतकोश में राग के बारे में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होता है [1]

"यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः।।"

अर्थात् - भरत प्रभृति मुनियों ने उन्हें राग कहा है जिनके द्वारा त्रिलोकी स्थित प्राणियों का मनोरंजन होता है।

महर्षि भरत के अनुसार जातियां वास्तव में मूल राग हैं जिनमें विकार होने से अनेक राग उत्पन्न होते हैं।

----

1 कालिदास साहित्य एवं संगीत कला: डॅा० सुषमा कुलश्रेष्ठ, पृ. 64.

संगीत रत्नाकर में प्राप्त उल्लेख के अनुसार[1] -

"चतुर्णामपि वर्णानां यो रागः शोभनो भवेत्।

स सर्वो दृश्यते येषु तेन रागाइनि स्मृताः।।"

अर्थात् - जो राग स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी - इस वर्ण चतुष्टय से शोभित हों, वे ही राग कहलाने योग्य है।

भरतकोश के पृष्ठ 923 पर प्राप्त उल्लेख के अनुसार[2] -

"इत्येवं रागशब्दस्य व्युत्पतिरभिधीयते ।

रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पतिः समुदाहृता।।"

अर्थात् - स्वरों के समूह के माध्यम से जन-मन-रंजन हेतु होने के कारण ही राग को "राग" यह अभिधान प्राप्त है।

संगीत दर्पण में दामोदर पंडित ने उल्लेख किया है -

"योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।

रंजको जन चित्तानां स रागः कथितो बुधैः।।"

---

1 कालिदास साहित्य एवं संगीत कला : डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ, पृ. 64.

2 वही

अर्थात् - स्वर और वर्ण से अलंकृत उस ध्वनि विशेष को विद्वतजन राग के नाम से संबोधित करते हैं, जो जनचित्त को रंग देती है, आनन्दित करती है।

संगीत विद्वानों के अनुसार वे ही स्वर समूह राग की संज्ञा प्राप्त करते हैं, जिनमें एक सविशेष व्यक्तित्व होता है, जिसमें रंगने की शक्ति हो। राग के संबंध में जो सविशेष व्यक्तित्व की अवधारणा व्यक्त की है, उसके अनुसार इस व्यक्तित्व के दो पहलू है - एक स्वरमय तथा दूसरा भावमय है। स्वरमय के अन्तर्गत स्वर-देह के अंगों का वर्णन सामने आता है। इन अंगों का विश्लेषण यह ढूंढ़ने का प्रयास है कि रंग देने की शक्ति किन तत्वों में निहित है। इस स्वर देह के विश्लेषण के अन्तर्गत भरत ने दस लक्षण भी बताये हैं। क्योंकि हमारे संगीत की परंपरानुसार नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर तथा स्वरों के विभिन्न संयोग से रागों की रचना की गई है तथा राग गाथा की परंपरा प्रचलित है। विद्वानों के अनुसार राग की उत्पत्ति जाति से हुई है, जिसका विवरण हमें भरतकाल से प्राप्त होता है। आचार्य बृहस्पति ने भरतकृत नाट्यशास्त्र के उल्लेख से प्रभावित होकर "भरत का संगीत सिद्धान्त" नाम्नी पुस्तक में जातियों का विशद विवरण तथा उनके लक्षण इत्यादि का वर्णन किया है। विद्वानों का यह भी कथन है कि जाति के लिये निर्धारित लक्षण रागों के लिये भी सर्वमान्य है।

रागों के जाति लक्षण के संदर्भ में नाट्यशास्त्र में जो उल्लेख प्राप्त होता है उसके अनुसार -

"ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च।
अल्पत्वश्च बहुत्वश्च षाडवौडुविते तथा ।।"

भरत ब. स.

प्रचलित दस विधि राग लक्षण का परिचयात्मक बोध निम्नानुसार दिया जाना प्रासंगिक होगा।

1. ग्रह स्वर
2. अंश स्वर
3. न्यास
4. अपन्यास
5. अल्पत्व
6. बहुत्व
7. तार गति
8. मन्द्र गति
9. षाडवत्व एवं
10. औडवत्व ।

---

1 भरत का संगीत सिद्धांत, आचार्य बृहस्पति, पृ. 78.

आचार्य शारंगदेव ने उपर्युक्त दस लक्षणों के अतिरिक्त तीन और लक्षण बताये हैं, वे हैं -

1. सन्यास,
2. विन्यास, एवं
3. अन्तमार्ग।

जबकि भावमय अंग के अन्तर्गत उस परमानन्द की कल्पना की जाती है, जिसके अनुसार राग का स्वरूप प्रस्तुत होने पर अनुकूल भाव उस स्वर समूह के द्वारा आनन्द के रूप में, रंजन के रूप में सामने उपस्थित होता है।

राग की परिभाषा एवं स्वरूप को कुछेक अंग्रेजी विद्वानों ने भी अपने तरीके से व्यक्त किये हैं। फ्रॉक्स स्ट्रैंग्वेज के अनुसार -

> "राग स्वरों का एक अदृश्य बल्कि अधिकतम संभावित वैयक्तिकता की तरह का क्रम है, जो मेलॉडी बनाने वाले स्वरों के सामीप्य से या स्वरों की विविक्तता से, उस विशेष ढंग से, जिसे साधारणतया उनका उच्चारण किया जाता है, उसकी आवृति विशेष से या उसके विपरीत जिस गति से वह आवर्तित होता है,

उसकी उपस्थिति से या अनुपस्थिति से और किसी अश्रव्य ध्वनि से संपुष्ट आधार-स्वर के संबंध से जाना जाता है।"

राग शब्द की व्याख्या करते हुये पॉप्ले ने लिखा है -

"राग, स्वराष्टक में आने वाले स्वरों का ऐसा क्रम है, जो सभी भारतीय गीतियों का आधार स्वरूप होता है तथा जो कुछ स्थिर स्वरों की प्रमुखता या विशेष स्वरों की क्रमिकता के द्वारा एक दूसरे से अलग गाया जाता है।"

वस्तुतः राग स्वराष्टक (आवर्तक) के स्वरों का एक ऐसा गीतात्मक विधान है, जो एक निश्चित मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिये बनाया जाता है।

स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार -

"राग एक मनोभौतिकीय वस्तु है, क्योंकि वह मन के आत्मगत अनुभवों का वस्तुपरक प्रकाशन है। यह सर्वप्रथम

> मन में सर्वांगपूर्ण निर्मित होता है, तथा बाहर भौतिक स्वर-रूप में प्रक्षेपित किया जाता है, और इसी कारण किसी राग रचना की प्रक्रिया में मन और भौतिक तत्व साथ-साथ कार्य करते हैं।"

सामान्य तौर पर भी राग से एक ऐसे मधुर तारतम्यता का बोध होता है, जो आनन्द की ओर उन्मुख कराता है। कहते हैं राग से ही रागात्मक संबंध का आविर्भाव होता है। राग के ही कारण समान चित्त-वृति वाले दो या दो से अधिक व्यक्तियों में मनोहारी संबंध स्थापित होना संभव हो पाता है। वस्तुतः 'राग' शब्द की उत्पत्ति रंग शब्द से हुई है, जिससे तात्पर्य समझा गया है - रंग जाना, प्रभावित होना, प्रेरित रस या भाव के आवेश में बह जाना। जब राग शब्द का प्रयोग संगीत के परिप्रेक्ष्य में लिया जाता है तब इसका शाब्दिक अर्थ बनता है, मन का रंग जाना या मनोभाव।

संगीत रत्नाकर में प्राप्त उल्लेख के अनुसार "राग वह संगीत खण्ड है, जो सप्त स्वरों, वर्णों अथवा ध्वनि के विभिन्न प्रकारों की उत्तमता के कारण प्रशंसा का आह्वान करता है।

अन्य उल्लेख के अनुसार शिव तथा शक्ति इन दोनों के योग से राग की उत्पत्ति हुई है। भगवान शंकर (महादेव) के पांच मुखों से पांच राग उत्पन्न हुये और छठा राग माँ पार्वती जी के मुख से निकला।

महादेव जी ने जब तांडव करना शुरू किया तब उनके सद्योवक्त्र नामक मुख से श्री राग निकला। वामदेव मुख से बसंत निकला, अघोर मुख से भैरव, तत्पुरूष मुख से पंचम और ईशान मुख से मेघ राग तथा मां पार्वती जी के मुख से नटनारायण राग उत्पन्न हुआ।[1]

विद्वानों की मान्यता है कि राग रूपी शरीर में स्वर रूपी भिन्न अंग हैं, जिनके सुन्दर समायोजन से ही राग का निर्माण होता है। स्वरों की प्रकृति, स्वरों के लगाव तथा विभिन्न स्वरों से विभिन्न रस निष्पत्ति के आधार पर रागों की प्रकृति निर्धारित होती है और राग गायन से सांगीतिक प्रस्तुतियों की माधुर्यता तथा सरसता आधारित रहती है। इस संदर्भ स्वरों के रंग, ऋषि, देवता, छंद, रस इत्यादि का वर्णन जो ग्रन्थों में प्राप्त होता है, पर दृष्टिपात करना प्रासंगिक ही होगा।

पं0 दामोदर ने संगीत दर्पण नाम्नी ग्रंथ में विभिन्न स्वरों के रंग, ऋषि, देवता, छंद, रस इत्यादि का वर्णन किया है, जिसका विवरण निम्नानुसार है -

स्वरों के रंग[2]

संगीत के सात स्वरों का क्रम से रंग इस प्रकार है -

---

1 संगीत दर्पण, पं0 दामोदर, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 73.

2 पद्माभः पिंजरः स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोऽसितः।
पीतः कर्बुर इत्येषां जन्मभूमिमथो ब्रुवे।। 86 ।।

1. षडज (सा) - लाल (कमल के समान)
2. रिषभ (रे) - पिंजर
3. गंधार (ग) - सुवर्ण
4. मध्यम (म) - श्वेत
5. पंचम (प) - काला
6. धैवत (ध) - पीला, एवं
7. निषाद (नि) - चितकबरा।

<u>स्वरों के ऋषि</u>[1]

सात स्वरों के ऋषि का वर्णन निम्न है -

1. षडज (सा) - अग्नि
2. ऋषभ (रे) - ब्रह्मा
3. गंधार (ग) - चन्द्रमा
4. मध्यम (म) - विष्णु
5. पंचम (प) - नारद
6. धैवत (ध) - तुम्बरू
7. निषाद (नि) - धनद (कुबेर)।

---

1 वह्निर्वेधा शशांकश्च लक्ष्मीकांतश्च नारद।
ऋषयो ददृशुः पंच षडजादींस्तुबरुर्धनी ।। 88 ।।
- संगीत दर्पण, पं० दामोदर, पृ. 31-32.

स्वरों के देवता[1]

सात स्वरों के देवता इस प्रकार हैं -

1. षडज (सा) - बह्नि
2. ऋषभ (रे) - ब्रह्मा
3. गंधार (ग) - सरस्वती
4. मध्यम (म) - इन्द्र
5. पंचम (प) - विष्णु
6. धैवत (ध) - गणेश
7. निषाद (नि) - सूर्य

स्वरों के छंद[2]

सातों स्वरों के छंद इस प्रकार हैं -

1. षडज (सा) - अनुष्टुप्
2. ऋषभ (रे) - गायत्री

---

1 बह्निब्रह्मसरस्वत्यः शर्वश्रीशगणेश्वराः ।
सहस्त्रांशुरिति प्रोक्ताः क्रमात् षडजादिदेवताः ।। 89 ।।

2 क्रमादनुष्टुप् गायत्री त्रिष्टुप् च बृहती ततः।
पंक्तिरूष्णिक् च जगतीत्याहुश्चछंदांसि सादिषु ।। 90 ।।
- संगीत दर्पण, पं० दामोदर, पृ. 52.

3. गंधार (ग) - त्रिष्टुप
4. मध्यम (म) - बृहती
5. पंचम (प) - पंक्ति
6. धैवत (ध) - उष्णिक
7. निषाद (नि) - जगती

स्वरों के रस[1]

षडज तथा ऋषभ स्वर - अद्भुत, रौद्र तथा वीर रस।
धैवत स्वर - वीभत्स तथा भयानक रस।
गंधार एवं निषाद स्वर - करूण रस।
मध्यम एवं पंचम स्वर - हास्य और श्रृंगार रस।

डॉ० सौरीन्द्र मोहन टैगोर ने भी अपनी पुस्तक " "The Seven Principal Notes of the Hindus" (द सेवन प्रिन्सिपल म्युजिकल नोट्स ऑफ द हिन्दुज) में सप्त स्वरों के देवता के संबंध में इस प्रकार वर्णन किया है -

---

1 सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धौ वीभत्से भयानके ।
कार्योऽगनी तु करूणे हास्यश्रृंगारयोर्मपौ ।। 91 ।।
- संगीत दर्पण, पं० दामोदर, पृ. 32.

स्वर	देवता
1. षडज	अग्नि - षडजाधिदेव: अग्नि: ।
2. ऋषभ	ब्रह्मा - ऋषभाधिदेव: ब्रह्मा ।
3. गंधार	सरस्वती - गान्धाराधिदेवी सरस्वती ।
4. मध्यम	महादेव - मध्यमस्वराधिदेव: महादेव: ।
5. पंचम	विष्णु - पंचमाधिदेव: विष्णु: ।
6. धैवत	गणेश - धैवताधिदेव: गणेश: ।
7. निषाद	सूर्य - निषादाधिदेव: सूर्य: ।

सात स्वरों के लिये निम्न विवरण भी एक स्थान पर प्राप्त हुआ है, जिसका उल्लेख प्रासंगिक ही होगा -

Shadaj (Sa) - Pink is the colour of the first Musical note Sa. The moon is its planet and the pearl its gem stone. Sa derives its being from the call of the Peacock. Symbolized by the agni kund with Agni as its deity. Sa has no particular hour of the day or season of its own. It is universal both in its place in time and in its appeal.

Rishabh (Re) - Re, the second note, emits a light greenish yellow colour and has the emerold as its gem stone with mercury as its planet. Derived from the call of the Ox, Re is symbolised by the trimurti, and has Brahma as its ruling deity. It is a note that celebrates the sun-spangled hours of noon and the bright colours of spring.

Gandhar (Ga) - Wheatish-red in its colour, Ga, the third note, is given over to the beautiful afternoons of summer. Rulled by Venus, it has the diamond as its gem stone and the Veena as its instrument. Ga derives its power from Saraswati, the Goddess of Music and its being from the voice of the goat.

Maddhyam (Ma) - The fourth musical note 'Ma', dedicates itself to the dulcet hue of monsoon evenings. So alike in colour to its own maroon. Symbolised by the chakra Ma has the sun for its planet and the Ruby as its gem stone. Rules by Vishnu, this note stems from the call of the crane.

Pancham (Pa) - Crimson in colour, 'Pa', the fifth note, blends itself with the late evening hours of autumn with splendid assurance. Fittingly, it is derived from the tones of the Koyal and has lotus as its symbol. Rules by laxmi, Pa has Mars as its planet and the coral as its gem stone.

Dhaivat (Dha) - 'Dha' the sixth musical note, celebrate the midnight hour in winter. Creamish-yellow in colour, this note has Ganesh as its deity and the rat as its symbol. Finding its birth in the call of the Frog, Dha has jupiter as its ruling planet and the topaz as its gem stone.

Nishad (Ni) - The last musical note Ni is blackish grey in colour to reflect the early morning hours of late winter. Ruled by Surya and symbolised by the God's own 7 (seven) horse chariot, Ni derives its being from the voice of the elephant. It has saturn as its planet and the blue sopphire as its gem stone.

रागों का समय निर्धारण

भारतीय संगीत के संदर्भ में प्राचीन काल से जब रागों के संबंध में उपलब्ध तथ्यों पर दृष्टिपात किया जाता है तब सबसे पहले जो लक्षण उभरकर सामने आता है वह रागों का एक निश्चित समय, काल में प्रस्तुति। ऐतिहासिक परिदृश्यों में प्राप्त उल्लेख के अनुसार दिन-रात के चौबीस घंटों में भिन्न-भिन्न रागों की प्रस्तुति अथवा पूरे वर्ष भर में काल, ऋतु के अनुसार रागों की प्रस्तुति के साथ-साथ व्याकरण की दृष्टि से परिपूरित सिद्धान्त प्रातःकालीन एवं सायंकालीन संधि प्रकाश बेला के आधार पर रागों की प्रस्तुतियों का एक व्यापक विवरण हमें प्राप्त होता है। इतना ही नहीं मध्यकाल में राग-रागिनी वर्गीकरण, पुत्र राग, पुत्रवधु राग संबंध तथ्य भी हमारे संगीत ग्रन्थों में उल्लिखित है। इन सभी प्रकार के उल्लेखों के पीछे के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर यदि हम विचार करें तो हम पाते हैं कि इनका सबसे प्रमुख आधार है, रस भाव एवं मनोभाव।

रागों का समय, काल एवं ऋतु के साथ संबंध के पीछे रसानुभूति एवं राग-रस संबंध मुख्य रीढ़ाधार प्रदान करता है, क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक रस किसी-न-किसी मानवीय भाव का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार संगीत का प्रत्येक राग किसी-न-किसी रस से संबद्ध होता है।

राग गायन के अन्तर्गत स्वर-लय-ताल युक्त काव्य रसा-प्लावन करता है। गीता की एक उक्ति के अनुसार रसोद्रेक तभी होता है जब रजोगुण एवं तमोगुण के ऊपर सत्वगुण का साम्राज्य व आधिपत्य स्थापित होने लगता है। क्योंकि राग-समय निर्धारण में स्वरों द्वारा निष्पादित रसभाव भी प्रमुख भूमिका अदा करता है, क्योंकि जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, प्रत्येक स्वर द्वारा रस निष्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।

इतना ही नहीं भारतीय संगीत की यह पुरानी परंपरा रही है कि विभिन्न प्रहरों एवं ऋतुओं में अलग-अलग रागों का प्रदर्शन हो। इस धारणा का विकास आठवीं शताब्दी के बाद हुआ माना जाता है। क्योंकि 'संगीत मकरन्द' नाम्नी ग्रंथ में एक विशिष्ट वर्गीकरण का उल्लेख, जो संभवतः रागों के वर्गीकरण के संबंध में संभवतः प्रथम उल्लेख है। जिसके अनुसार -

1. मुक्तांग कंपिता - ऐसे राग, जिनमें कंपित गमक विद्यमान रहता है।

2. अर्द्ध कंपिता - ऐसे राग, जिसमें आंशिक कंपन विद्यमान रहता है।

3. कम्पविहीना - ऐसे राग, जिसमें कंपन बिल्कुल न हो।

इस सर्वप्रथम प्राप्त वर्गीकरण को गहनता से देखने पर पता चलता है कि कंपन के प्रयोग के आधार पर निर्धारित इस वर्गीकरण में प्रयोगात्मक पहलु पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। विद्वानों की अपनी रचनाधर्मिता एवं प्रयोगमूलक व्यवहार के अनुसार रागों के संबंध में निम्न वर्गीकरण भी प्राप्त होता है, जो दिन-रात के प्रहर, मौसम ऋतु इत्यादि के आधारित है, और यह भी संकेत देते हैं कि कहीं-न-कहीं इनके पीछे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी आधार के रूप में सन्निहत है।

हमारे संगीत ग्रंथों में प्राप्त विवरण के अनुसार रागों के संबंध में विभिन्न मत, परिभाषायें तथा वर्गीकरण प्राप्त होते रहे हैं, जो ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर नारद काल से ही प्राप्त होने लगा था। जिनमें लिंग के अनुसार वर्गीकरण तथा दिन-रात के विभिन्न प्रहर में प्रस्तुति के आधार पर वर्गीकरण प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि आज-कल जो रागों की प्रस्तुतियों में दिन-रात के समय चक्र का अनुपालन किया जाता है, इसके पीछे प्राचीन काल से उपलब्ध मत-मतान्तर तथा वर्गीकरण की अवधारणा मूलतः आधार स्वरूप है। इतना ही नहीं पूरे वर्ष के विभिन्न ऋतु-काल के आधार पर भी रागों की प्रस्तुतियों के लिये विद्वानों ने वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। निश्चितरूप से इसके पीछे रागों की प्रकृति, स्वर लगाव तथा राग की मूल आत्मा के आधार पर भिन्न-

भिन्न प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध हुये हैं, जो भिन्न-भिन्न विद्वानों की मन:स्थिति एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणा को आधार मानकर व्यक्त हुआ माना जा सकता है। मध्यकाल में राग-रागिनी वर्गीकरण का जो विस्तृत स्वरूप प्राप्त होता है उसके पीछे भी लिंग के आधार प्राप्त वर्गीकरण तथा रागों के स्वरूप का आधार ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

स्वयं शोध प्रबन्ध में उल्लिखित नारद द्वारा लिंग के आधार पर प्राप्त वर्गीकरण इस प्रकार है[1] -

(क) पुलिंग राग

"बंगाल: सोमरागश्च श्रीरागश्च तथैव च ।

भूपाली छायागौड़श्च शुद्ध हिन्दोलिका तथा।। 53 ।।

आन्दोली दोम्बुली चैव गोड़: कर्नाटकाह्वय:।

फडमंजी शुद्धनाटी तथा मालवमौलिक: ।। 54 ।।

---

1 भारतीय शास्त्रीय संगीत और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, स्वयं शोध प्रबन्ध, पृ. 227.

रागरंगच्छायानाटी रागः कोलाहलस्तथा।

सौराष्ट्री च बसन्तश्च शुद्धसारंग भैरवी ।। 55 ।।

रागध्वनिस्तथा ह्वेते पुंरागाः परिकीर्तिताः।

नारदेन विचित्रेण सन्ति नामानि वक्ष्यते ।। 56 ।।"

अर्थात् - बंगाल, सोमराग, श्रीराग, भूपाली, छायागौड़, शुद्धगौड़, अन्दोली, दोम्बुली, गौड़, कर्नाट, फडमंजी, शुद्धनटी, मालवगौल, रागरंग, छायानट, कोलाहला, सौराष्ट्र, बसन्त, शुद्ध सारंग, भैरवी, रागध्वनि।

(ख) स्त्रीलिंग राग

"तुण्डी तुरूष्कतुण्डी च मल्लारी माहुरी तथा ।

पौरालिकी च काम्भारी भल्लाती सैन्धवी तथा ।। 57 ।।

सालंगख्या च गान्धारी देवक्री देशिकी तथा ।

वेलावली च बहुली गुण्डक्री धूर्जरी तथा ।। 58 ।।

बराटी द्रावड़ी हंसी गौड़ी नारायणी तथा ।

अहरी मेघरंजी च मिश्रनाटा यथा क्रमात ।। 59 ।।"

अर्थात् - तुंडी, तुरूष्कतुंडी, मल्लारी, माहुरी, पौरालिका, काम्भरी, भल्लाती, सौन्धवी, सालंग, गंधारी, देवक्री, देसी, बिलावली, बहुली, गुणक्री, धुर्जरी, वरारी, द्रवेरी, हंसी, गौरी, नारायणी, अहिरी, मेघरंजनी, मिश्रनट।

(ग) नपुंसक राग

"कौशिकी ललितश्चैव, धन्नांशी च कुरंजिका ।
सौराष्ट्री, द्रावडी शुद्धा तथा नागवराटिका ।। 60 ।।

कौमौदकी च राक्री सावेरी च तथैव च ।
बलहंसः सामवेदी शंकराभरणस्तथा ।। 61 ।।"

नपुंसका इति प्रोक्ता रागलक्षणको विदैः ।।

अर्थात् - कौशिकी, ललित, धन्नाशी, कुरुंगी, सौराष्ट्री, द्रविरी शुद्ध, नगवेदाधिका, कौमोदकी, रामक्री, सावेरी, बलहंस, सामवेदी, शंकराभरणम्।

इतना ही नहीं नारद ने संगीत मकरन्द में दिन-रात के समय के संदर्भ में रागों की प्रस्तुति के आधार पर भी निम्न वर्गीकरण उल्लिखित किया है, जो इस प्रकार हैं -

1. प्रातः काल में गाये जाने वाले राग

"गान्धारो देवगान्धारो धन्नासी सैन्धवी तथा ।
नारायणी गुर्जरी च बंगाल परमंजरी ।। 10 ।।

ललितन्दोलश्रीका सौराष्ट्रेयजयसाक्षिकौ ।
मल्हारः सामवेदी च बसन्तः शुद्ध भैरवः ।। 11 ।।

वेलावली च भूपालः सोमरागस्तथैव च ।
एते रागास्तु गातव्यः प्रातःकाले विशेषतः ।। 12 ।।"

अर्थात् - गंधार, देवगंधार, अन्नासी, सैंधवी, नारायणी, गुर्जरी, बंगाल, पटमंजरी, ललित, हिन्डोल, श्री, सौराष्ट्र, मल्लार, सामवेदी, बसन्त, शुद्ध भैरव, वेलावली, भूपाल, सोमराग।

2. मध्य दिन में गाये जाने वाले राग

"शंकराभरणः पूर्वो बलहंसस्तथैव च ।
देसी मनोहरी चैव सावेरी दोम्बुली तथा ।।

काम्भोजी गोपिकाम्भोजी कैशिकी मधुमाधवी।

बहुलीद्वयं मुखारी च तथा मंगलकौशिका ।।

एते राग विशेषास्तु मध्याह्ने परिकीर्तिता ।।

अर्थात् - शंकराभरण, बलहंस, देसी, मनोहरी, सावेरी, दोम्बुली, कम्बोजी, गोपिकाम्भोजी, कैशिकी, मधुमाधवी, बहुली, मुखारी, मंगल कौशिक।

3. <u>संध्याकालीन राग</u>

"शुद्धनाटा च सालंगो नाटी शुद्धवराटिका ।

गौलो मालवगौडश्च श्रीरागश्चाहरी तथा ।।

तथा रामकृती रंजी छाया सर्ववराटिका।

वराटिका द्रावाटिका देशी नागवराटिका ।।

कर्णाटहयगौडिति, इत्येते चंद्रमांशजा।।

अर्थात् - शुद्धनट, सालंग, नटी, शुद्धवराटिका, गौलो, मालवगौड़, श्रीराग, अहरी, रामकृति, रंजी, छाया, वेराकिता, द्रावाटिका देसी, नागवराटिका, कर्नाटा, हयातिका।

4. <u>सूर्योदय एवं सूर्यास्त से तीन घंटे पूर्व गेय राग</u>

"देशाक्षी भैरवा शुद्धा नादं यत्प्रहरोद्भवम्।
वराटिका तथा शुद्धा द्रावटिराग संज्ञिका ।।"

अर्थात् - देशाखी, भैरव शुद्ध, वराथिका, शुद्धद्रवाटिका।

5. <u>सूर्यास्त एवं सूर्योदय से तीन घंटे पश्चात् गेय राग</u>

"प्रहरोपरि गातव्य मल्हारी माहुरी तथा ।
आन्दोली रामकृती छायानाटा च रंग का।।"

अर्थात् - मल्लारी, महुरी, अन्दोली, रामकृति, छायानट।

इतना ही नहीं राग-रागिनी वर्गीकरण के अन्तर्गत सोमेश्वर मत द्वारा प्रतिपादित राग-रागिनियों के संबंध में यह उल्लेख भी प्राप्त होता है, जिसमें प्रत्येक राग-रागिनी के विशेष ॠतु-माह में गाये-बजाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है[1]-

---

1 द्रष्टव्य - द ऑरिजिन ऑफ राग - प्रो० एस बन्दोपाध्याय, मुंशीराम पब्लिशर्स, 1977, पृ. 30-31.

"श्रीरागो रागिनीयुक्तः शिशिरे गीयते बुधैः।
बसन्तः ससहायस्तु वसन्ततो प्रगीयते ।।

भैरवः ससहायस्तु ऋतौ ग्रीष्मे प्रगीयते।
पंचमस्तु तथा गेयो रागिण्या सह शारदे।।

मेघरागो रागिणीभियुक्तो वर्षासु गीयते।
नट्ट नारायणो रागो रागिण्या सह हेमका।।"

अर्थात -

1. श्री राग एवं इनकी रागिनियों को जनवरी-फरवरी माह अर्थात् शिशिर ऋतु में गाना चाहिये।
2. बसन्त राग एवं इनकी रागिनियों को मार्च-अप्रैल माह अर्थात बसन्त ऋतु में गाना चाहिये।
3. भैरव राग एवं इनकी रागिनियों को मई-जून माह या ग्रीष्म ऋतु में गाना चाहिये।
4. मेघराग एवं इनकी रागिनियों को जुलाई-अगस्त माह अर्थात वर्षा ऋतु में गाना चाहिये।

5. पंचम राग एवं इनकी रागिनियों को सितम्बर-अक्टूबर माह यानि शरद ऋतु में गाना चाहिये।

6. नट्टनारायण राग एवं इनकी रागिनियों को नवम्बर-दिसंबर माह अर्थात् हेमन्त-ऋतु में गाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकारों ने वादी-संवादी के आधार पर भी रागों के गाये-बजाये जाने के समय का निर्धारण किया है, जिसके अनुसार -

1. जिन रागों के वादी स्वर राग के स्वर सप्तक में पूर्वांग में होते हैं उन्हें दिन के बारह बजे से रात के बारह बजे के मध्य गाया-बजाया जाना चाहिये।

2. जबकि जिन रागों के वादी-स्वर राग के स्वर सप्तक में उत्तरांग में होते हैं उन्हें रात के बारह बजे से दिन के बारह बजे के मध्य गाया बजाया जाना चाहिये।

भारतीय संगीत में प्रचलित राग गायन की व्यवस्था में रागों के आविर्भाव से लेकर आजतक जिस प्रकार लक्षण, वर्गीकरण इत्यादि प्राप्त होते हैं, उनसे संगीत में रागों की महत्ता तथा रागों के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा भावाभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होता है। इसी क्रम में रागों के चित्रांकन पर एक दृष्टिपात करना भी

आवश्यक है, जो मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष में चित्रकला से साम्य का बोध भी कराता है।

राग और रस

संगीत हो या कोई अन्य ललित कला, प्रत्येक में सौंदर्यबोध होने के साथ-साथ आनन्द की अनुभूति परम लक्ष्य की प्राप्ति ही कहा गया है। आनन्द का दूसरा नाम रस के रूप में कहा जाता है। वैसे भी कला और रस का अत्यन्त निकटस्थ संबंध माना जाता है। जहाँ तक संगीत का प्रश्न है संगीत केवल कला ही नहीं बल्कि मोक्ष प्राप्ति का अन्यतम मार्ग भी बताया गया है, क्योंकि मन की तन्मयता की दृष्टि से संगीत कला सबसे प्रभावी माना जाता है, इसी लिये संगीत में रस का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। रस एक विशेष प्रकार की चेतना है, जो न केवल सजीवता का संचरण कराती है अपितु नया प्राण भी फूंकती है। बिना रस के तो संगीत निष्प्राण जीव के समान दिखता है। यह मनुष्य के अन्तःकरण-अन्तर्भावना की निधि है, तभी विद्वानों ने कहा है -

"रसते इति रसः।"

तथा भावना की महत्ता को साथ में जोड़ते हुये यह भी कहा गया है -

आवश्यक है, जो मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष में चित्रकला से साम्य का बोध भी कराता है।

राग और रस

संगीत हो या कोई अन्य ललित कला, प्रत्येक में सौंदर्यबोध होने के साथ-साथ आनन्द की अनुभूति परम लक्ष्य की प्राप्ति ही कहा गया है। आनन्द का दूसरा नाम रस के रूप में कहा जाता है। वैसे भी कला और रस का अत्यन्त निकटस्थ संबंध माना जाता है। जहाँ तक संगीत का प्रश्न है संगीत केवल कला ही नहीं बल्कि मोक्ष प्राप्ति का अन्यतम मार्ग भी बताया गया है, क्योंकि मन की तन्मयता की दृष्टि से संगीत कला सबसे प्रभावी माना जाता है, इसीलिये संगीत में रस का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। रस एक विशेष प्रकार की चेतना है, जो न केवल सजीवता का संचरण कराती है अपितु नया प्राण भी फूंकती है। बिना रस के तो संगीत निष्प्राण जीव के समान दिखता है। यह मनुष्य के अन्तःकरण-अन्तर्भावना की निधि है, तभी विद्वानों ने कहा है -

"रसते इति रसः।"

तथा भावना की महत्ता को साथ में जोड़ते हुये यह भी कहा गया है -

"यथा भावना तथा रसोत्पत्तिः ।"

रसोत्पत्ति के लिये भावना का होना आवश्यक माना जाता है तथा संगीत में भावना नाद से प्रवाहित होती है। नाद से उत्पन्न स्वर राग, बंदिश, तथा अन्य सहयोगी अवयव रसोत्पत्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। वैसे साहित्य के क्षेत्र में काव्य सौंदर्य से रस का बोध होता है। क्योंकि काव्य, संगीतादि ललित कलाओं के श्रवण-दर्शनादि से जिस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे ही सामान्यतः रस कहकर संबोधित किया जाता है। रस वस्तुतः भारतीय काव्य, संगीत ही नहीं अपितु समस्त ललित कलाओं की आत्मा है। क्योंकि भारतीय कलाओं में प्रकृति ही सौंदर्य का आदर्श अथवा प्रतिमान, रही है, अतः कला के सौंदर्य निवेश में ही उसे आकर महत्व मिला है। तभी कहा जाता है कि भारतीय कलाओं की एक विशिष्टता यह है कि वे प्रायः रसोपकारी और रसानुरूप हैं। उनमें सार्वत्रिक रूप से रस प्रक्रिया विद्यमान है।

नाट्यशास्त्र, काव्यमाला में प्राप्त उल्लेख के अनुसार -

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्र सनिष्पत्तिः।"

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

अभिनय दर्पण में प्राप्त उल्लेख के अनुसार -

"यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।

यतो मनस्ततो भावो, यतो भावास्ततो रसः ।।"

—जहां हाथ जाते हैं, वहां दृष्टि जाती है। जहां दृष्टि जाती है, मन उसका अनुसरण करता है, जहां मन जाता है, वहां भाव प्रकट होता है तथा भाव प्रकट होता है, वहीं रस की उत्पत्ति होती है।

रस के बारे में यह भी कहा गया है कि -

"मानव जाति के अन्तःकरण में वास करने वाली विशिष्ट भावनाओं के चरमोत्कर्ष को ही रस कहते है।"

ललित कला संगीत के संबंध में जब रस की चर्चा होती है तो यह बात सबसे ऊपर उभर कर आती है कि संगीत कला का लक्ष्य तभी पूरा होता है जब श्रोता और कलाकार के भावों का तादात्म्य स्थापित होता है। इस प्रक्रिया में कलाकार स्वर, गीत, ताल आदि अवयवों के भाव, पात्र को आत्मसात कर लेता है, तब श्रोताओं को उस सीमा तक रसानुभूति होती है।

साहित्य-काव्यशास्त्र में नौ रस माने गये हैं - श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, वीभत्स, भयानक, रौद्र, करूण, एवं शान्त। भारतीय शास्त्रीय संगीत में मुख्य रूप से श्रृंगार, करूण, वीर और शांत रसों का समावेश है तथा प्रयोग भी किया जाता है। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि साहित्य में मान्य नौ रसों में से संगीत में केवल पांच ही रस उपयुक्त हैं - श्रृंगार, वीर, करूण, शान्त और हास्य, जिनके स्थायी भाव हैं क्रमशः रति, उत्साह, शोक, निर्वेद और हास।

संगीत द्वारा रसाभिव्यक्ति में शास्त्रीय राग गायन या वादन का विशेष महत्व है। क्योंकि समयानुसार रागों का चयन, स्वर लगाव, शैलीगत प्रस्तुति, बोल-बंदिश-काल का सुन्दर सुस्पष्ट उच्चारण, बढत, तानें आलाप इत्यादि सभी रसात्मक सृजन की प्रक्रिया में सहयोगी होते हैं। साथ ही लय-ताल छंद, वाद्य इत्यादि भी रसों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यदि गायन अथवा वादन की संपूर्णता से देखें तो गमक, मींड़ तिरोभाव आविर्भाव इत्यादि से भी विभिन्न रसों का निष्पादन सफलतापूर्वक किया जाता है। अतः संगीत के संबंध में यह तो स्थापित व मान्य तथ्य है कि चाहे यह उपासना का मार्ग हो, साधना का मार्ग हो या जन-मन रंजन का मार्ग रसों की निष्पत्ति, अपने अवयवों के माध्यम से होती रहती है तथा राग-गायन शैली की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

राग चित्राभिव्यंजन (रागमाला चित्रांकन)

भारतीय संगीत में रागों की आत्माभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम नाद माना जाता है। क्योंकि विद्वानों के अनुसार नाद ही भारतीय संगीत का वह माध्यम है, जिससे संगीत में गतिमयता प्राप्त होती है, जो मनुष्य को रसानुभूति की सीमा तक ले जाता है। संगीत में नाद साधना से उपासना आरंभ होती है और लक्ष्य, परमतत्व की प्राप्ति होती है। चित्रकला के माध्यम में नाद का स्वरूप बदलकर रंग और रेखा के रूप में हो जाता है। समस्त ललित कलायें रूप सृजन के सिद्धांतों में अपने विभिन्न तत्वों को इस प्रकार आत्मसात करती है कि कलाकार एक ही उद्देश्य परम-तत्व के लक्ष्य की प्राप्ति करते है। प्रो० गांगुली के अनुसार - "समस्त राग-रागिनियों का आधार उनके देवतामय रूप है। नाद उनका मार्ग प्रशस्त करता है।"[1]

रागों के नादात्मक रूप की महत्ता तो प्राचीनकाल से प्रचलित है ही, भावमय रूप ने भी इसके समग्र रूप के विकास को और भी अभिसिंचित किया है। क्योंकि रूप की सृष्टि में दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इनमें एक, जिससे निर्माण कार्य

---

1 राग-रागिनी, भाग-2, प्रो० गांगुली, 1934, कलकत्ता।

की प्रक्रिया आरंभ होती है और दूसरी है विचार भावना, जिनके आधार पर उस अंग का उपयोग किया जाता है। यद्यपि व्यक्तिगत विचार भिन्नता के कारण वस्तु के निर्माण सामग्री में भिन्नता हो सकती है, परन्तु रूप रचना में समय तथा भावना पर आम सहमति रहती है। कलाकार अपना अर्थ रूपों में ढूंढ़ते हैं और कलाकृति बनती है। कला विषय समस्त प्रकृति की व्यापकता के साथ जुड़ा है, परन्तु वह रूप तब तक कला की श्रेणी में नहीं आता, जब तक उसे कलाकार का संसर्ग नहीं मिलता।[1] वस्तुतः राग-चित्राभिव्यंजन के क्रम में रागों के स्वरूप-ध्यान का अनन्य महत्व है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार "कलाओं के मूर्त्त एवं अमूर्त्त स्वरूपों के अतिरिक्त रागों के स्वरूप एवं ध्यान का अनन्य महत्व है। रागों के भावाधारित अमूर्त व्यक्तित्व को मूर्त्त करने के लिये संगीत के कुछ संप्रदायों ने रागों के ध्यान की रचना की है।"[2]

संगीत के क्षेत्र में ध्यान, राग की वह पद्धति है, जिसके अन्तर्गत संगीतज्ञ राग प्रस्तुत करने के पूर्व ही उसके स्वरूप का आभास देता है। यह ध्यान रूप महत्व का परिचायक होता है और लक्ष्य

----

1 डॉ० र. कु. मेघ, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, 1977, पृ. 54.

2 आचार्य बृहस्पति, संगीत चिन्तामणि, 1966, पृ. 400.

की प्राप्ति में राग को स्पष्ट करता है। राग अमूर्त्त है, किन्तु ध्यान राग के प्रतीकात्मक शरीर को जन्म देता है, क्योंकि जब संगीत नाट्य से अलग हुआ, तब निश्चितता के अभाव में उसमें रिक्तता हो गई। संगीतज्ञों ने राग ध्यान के द्वारा उस कमी को पूरा करने का प्रयास किया और यह इस समस्या का वैज्ञानिक समाधान था।[1]

रागों के प्रायोगिक स्वरूप के साथ-साथ विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त ध्यान परंपरा के आधार पर मध्यकाल में रागों के चित्रांकन की परंपरा का विकास हुआ, जो हमें विभिन्न शैलियों एवं रंगों तथा आकृतियों के माध्यम से आज भी उपलब्ध हैं। जब हम इनका मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना प्रारंभ करते हैं तो संगीत एवं चित्रकला से संबंधित कुछेक तथ्यों पर गहनता से विचार एवं उनका उल्लेख आवश्यक हो जाता है। जहां तक संगीत में रागों का प्रश्न है, जिनका कि आधार सप्त स्वर हैं। स्वरों के भिन्न-भिन्न संयोजनों के फलस्वरूप रागों का निर्माण होता है। साथ ही स्वरों के विशेष भावानुभावों के समन्वित रूप रागों के स्वरूप के लिये उत्तरदायी होता है। यह अन्य बात है कि रागों

----

1 डॉ० सुभद्रा चौधरी, संगीत द्वारा अभिव्यंजना का स्वरूप लेख, निबन्ध संगीत, पृ. 350.

की आत्मा बहुत कुछ प्रस्तुतिगत भाव रूप पर भी निर्भर करती है।

संगीत का संबंध देवी-देवताओं से होने के कारण विद्वानों में ऐसी मान्यता है कि विभिन्न देवी-देवताओं, उनके आसनों, वस्त्रों, शक्तियों, प्रतीकों आदि के विभिन्न गुण, रागों की स्वर लहरी में समाहृत हो जाते हैं। ऐसी परंपरा भी है कि प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथकारों ने भी अपना ग्रंथ आरंभ करने के पूर्व ब्रह्मा, सरस्वती तथा महेश्वर की वंदना इसी कारण से की है क्योंकि पौराणिक दृष्टि से संगीत का संबंध देवी-देवताओं से अविच्छिन्न रूप से माना जाता है और देवी-देवताओं से संबंध स्थापित कर उनकी वन्दना के साथ अपने कार्य का शुभारंभ करने में संगीत में, विशेष रूप से परम संतोष की स्थिति बताई जाती है।

इतना ही नहीं स्वरों के विभिन्न ऋषि, देवता इत्यादि गुणों के साथ-साथ संगीत दर्पण नाम्नी ग्रंथ में पं० दामोदर ने सप्त स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन वंश व जाति के आधार पर किया है। साथ ही स्वरों के रंग, ऋषि, देवता, छंद, तथा स्वरों से उत्पन्न रसों का वर्णन भी प्राप्त होता है।

स्वरों के वंश व जाति के संबंध में विवरण निम्नानुसार है -

"गीवार्णकुलसंभूता: षडजगांधार मध्यमा: ।

पंचम: पितृवंशोत्थो रिधावृषिकुलोद्भवौ।। 83 ।।

– संगीत दर्पण

अर्थात् – षडज, मध्यम और गंधार स्वर देवकुल में उत्पन्न हुये हैं। पंचम स्वर पितृवंश में उत्पन्न हुआ है। ऋषभ तथा धैवत स्वर ऋषि कुल में उत्पन्न हुये हैं और निषाद स्वर का जन्म असुरवंश में हुआ है।

पं० दामोदर ने आगे स्वरों की जातिगत उत्पत्ति के बारे में उल्लेख किया है –

"निषादोऽसुरवंशोत्थो ब्राह्मणा: समपंचका: ।

रिधा तु क्षत्रियौ ज्ञेयौ वैश्वजाती निगौमतौ।। 84 ।।

शुद्रावंतरकाकल्यौ क्रमेण कथितौ बुधै: ।। 85 ।।

अर्थात् – षडज, मध्यम और पंचम स्वर ब्राह्मण स्वर माने गये हैं। ऋषभ तथा धैवत स्वर क्षत्रिय हैं। गंधार तथा निषाद स्वर वैश्य जाति के हैं और अन्तर काकली विकृत स्वर क्षुद्र जाति के हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर जब हम राग-माला चित्रांकन

पर गहराई से विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि ललित कला की इन दो विधाओं के तात्विक साम्य के आधार पर विद्वानों ने काफी कार्य किया है तथा स्वरों के आधारभूत तत्व को चित्रकला के आधार भूत तत्व रंग-रेखा के साथ संयोजित कर कला के अनुसार मनोगत भावों को प्रकट किया गया है। जहां तक चित्रकला का संबंध है इसमें रागों के चित्राभिव्यक्ति के संदर्भ में रंगों के विभिन्न प्रयोग एवं विभिन्न आकृतिक रेखांकनों के माध्यमों से रागों के मनोगत भावों को सशक्त तथा प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया गया है। चूंकि रंग एवं प्रकाश हमारे दृष्टिज्ञान के सरलतम तत्व माने गये हैं, अतः रंगों के बारे में अधोलिखित तथ्यों का उल्लिखित किया जाना आवश्यक है।

विद्वानों ने मुख्य तीन रंग माने हैं। वे हैं - लाल, पीला तथा नीला। नाट्यशास्त्र में प्रधान रंग चार माने गये हैं - श्वेत, नील, रक्त ॥लाल॥ तथा पीत ॥पीला॥। चित्र सूत्रकार ने चित्र सूत्र में प्रधान रंग पांच माने हैं[1] - श्वेत, पीत ॥पीला॥, रक्त ॥लाल॥, नील एवं कृष्ण। इन्हीं रंगों के आपसी अनुपातिक मेल से अन्य रंग हरा, बैंगनी, नारंगी इत्यादि निर्मित किये जाते हैं।

विद्वानों के अनुसार रंगों के तीन प्रधान गुण हैं -

---

1 द्रष्टव्य - कला समीक्षा, डॉ० गिरिराज किशोर, पृ. 46.

§क§ रंगत §ख§ बल §ग§ घनत्व।

§क§ रंगत - रंगों की निर्माण प्रक्रिया तथा संख्या व अनुपात का बोध होता है।

§ख§ बल - से रंगों के हल्कापन या गहरापन का बोध होता है।

§ग§ घनत्व - से रंगों के चमक के प्रति तीक्ष्णता का परिचय होता है क्योंकि कण जितने परस्पर निकट होते हैं, उनका घनत्व उतना ही अधिक माना जाता है।

रंगों के प्रयोग के संबंध में भारतीय चित्रकला में रंग विचार की एक विशेष धारणा है, जिसके अनुसार भारतीय कला चिन्तन में रंगों का मात्र विधानगत महत्व या प्रसाधन के निमित प्रयोजन नहीं हैं, बल्कि कला के चरम लक्ष्य रसोपलब्धि से यह संबंद्ध है। जबकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार रंगों से प्राप्त विभिन्न वर्ण रंगों की तरंग लंबाई के माध्यम से व्यक्त की जाती है।

वस्तुतः चित्रकला में रंग योजना के सहारे भावों एवं रस-चर्वण को प्रतीकधर्मी तथा व्यंजनागर्भी बनाकर कलात्मकता प्रदान की जाती है।

ग्रंथों में विभिन्न रसों के अनुसार रंग विधान की धारणा का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है -

<u>रस</u>	<u>रंग</u>
श्रृंगार	श्याम
हास्य	श्वेत
रौद्र (वीर)	लाल (रक्त वर्ण)
करूण	भूरा
भयानक	काला
वीभत्स	नील
अद्भुत	पीत

विद्वानों के इस धारणा के अनुसार ग्रंथों में रंगों का विवरण रसों के संदर्भों में हुआ है, जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन एवं विश्लेषण के उपरांत निम्न विवरण उपलब्ध होता है -

<u>श्रृंगार रस</u> -

इस रस का वर्ण श्याम वर्ण बताया गया है और विष्णु इसके अधिदेवता माने गये हैं। यह अत्यन्त शीतलतादायक तथा सुखप्रद है।

हास्य रस -

इस रस का वर्ण श्वेत माना जाता है। सात्विक गुण भी श्वेत वर्ण का होता है। इसमें ईर्ष्या या द्वेष रहित हास्य रस की परिकल्पना है और मन की निश्छलता के साथ निरूपित होता है।

करूण रस -

करूण रस को कपोत वर्ण कहा गया है। राख का रंग होने से इसमें काला तथा श्वेत का सम्मिलित प्रभाव है। काला रंग अंधकार व निराशा का सूचक है। श्वेत की उज्ज्वलता निष्प्राणशीलता को व्यक्त करती है। प्रिय के अनिष्ट की आशंका का भाव छिपा रहने से करूण रस का वर्णन उचित ही है।

रौद्र रस -

इस रस का रक्त वर्ण है। इसका स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध के आवेश में मुख लाल हो जाता है और क्रोधपूर्ण आवेश में लाल रंग की उपस्थिति स्वाभाविक प्रतीत होता है।

वीर रस -

वीर रस गौर वर्ण का माना जाता है। साहित्य दर्पण में

गौर के स्थान पर हेम वर्ण का उल्लेख किया गया है। वीर का स्थायी भाव उत्साह है और उत्साह में भी उज्ज्वलता का भाव छिपा है।

भयानक रस -

इस रस का कृष्ण वर्ण है। भय के कारण बुद्धि कुंठित हो जाती है और सर्वत्र अंधकार एवं निराशा ही दिखाई देता है।

अद्भुत रस -

इस रस का रंग पीला माना गया है। यह अत्यन्त उज्ज्वल एवं प्रकाशयुक्त होता है। पीला रंग जगमगाहट का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिससे आश्चर्य के भाव का उदय होता है।

वीभत्स रस -

इस रस का नील वर्ण माना जाता है। वीभत्स रस का नीला रंग शुद्ध नील का सुप सार है। इससे घृणा का भाव उत्पन्न होता है।

शान्त रस -

इस रस का भी श्वेत वर्ण माना जाता है। निर्लिप्तता, निर्मलता एवं ज्ञान के प्रकाश के हेतु यह बहुत उपयुक्त है, यह विकार रहित होने के कारण पूर्ण शांति प्रदान करता है।

विभिन्न रसों एवं चित्रकला के रंगों के मध्य आपसी तादात्म्य के संदर्भ में डॉ० गिरजि किशोर ने कला समीक्षा में निम्न प्रकार विवरण दिया है[1] -

श्वेत -

किसी पवित्र या स्वच्छ वस्तु का विचार करते हुये श्वेत रंग का ध्यान आता है। इससे पवित्रता तथा स्वच्छता का बोध होता है।

पीला -

हल्का रंग होने के कारण यह पुण्यशीलता को प्रकट करता है। इस रंग का सबसे अधिक प्रभाव स्नायुओं पर पड़ता है। सुवर्ण और लक्ष्मी का रंग होने से यह बादशाही भी है।

लाल -

यह रंग सृष्टि का मुख्य रंग है और सबसे शीघ्र आकर्षित करता है। रूधिर का भी रंग लाल होने के कारण यह अत्यन्त उत्तेजक एवं प्रवर्त्तक है। अग्नि और सूर्य की उष्णता में भी यह रंग व्याप्त है, अतः क्रोध, वीरता, और जीवनीशक्ति इसी रंग के माध्यम से व्यक्त

---

1 कला समीक्षा, डॉ० गिरजि किशोर 'अशोक', देव ऋषि प्रकाशन, पृ. 45-46.

की जाती है।

नीला -

यह रंग अत्यन्त सुखप्रद है। रंगों में यह वैसे ही प्रमुख है, जैसे तत्वों में वायु। आकाश का रंग होने के कारण भी यह महत्वपूर्ण है।

हरा -

हरे रंग का प्रभाव आंखों तथा मस्तिष्क के लिये अत्यन्त हितकर है। प्रकृति में यह सर्वाधिक व्याप्त है और हृदय को शीतल अनुभूति देने वाला है। आयुर्वेद की दृष्टि से हरा रंग प्रमोद प्रसारक, आनन्दायक एवं स्वास्थ्यवर्धक है।

बैंगनी -

यह रंग भी आकर्षण में राजसी कहा गया है। इसमें लाल तथा नीले का मिश्रित गुण है।

काला -

काला रंग प्रकाश को विकीर्ण नहीं करता। अधंकार का रंग होने के कारण यह निराशा उत्पन्न करता है।

राग चित्राभिव्यंजन के अन्तर्गत उपरोक्त विवरण के उपरान्त कुछ रागमाला चित्रों का विवरण दिया जा रहा है, जिनमें राग-रागिनी वर्गीकरण के आधार पर दस का चयन किया गया है। वस्तुतः रागमाला चित्रों का अध्ययन यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाये तो यह देखना आवश्यक होगा कि रागमाला चित्रों में रंगों का प्रयोग, भिन्न-भिन्न आकृतियों का रेखांकन तथा सामरिक परिवेश का चित्रण किन आधारों पर किया गया है। क्योंकि शास्त्रों में प्राप्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक राग का ध्यान, राग की प्रकृति इत्यादि सभी निर्धारित है। साथ ही यह भी प्राप्त होता है कि रागों के आविर्भाव के समय से अलग-अलग विद्वानों में इस संबंध में अपने-अपने ढंग से विचार प्रकट किये हैं। मुख्यतः मध्यकाल से ही राग वर्गीकरण का प्रारंभ हुआ तथा विस्तृत वर्गीकरण राग-रागिनी वर्गीकरण के प्रचलन के बाद ही रागमाला चित्रांकन की भी शुरूआत हुई है। यद्यपि मुगल शैली का प्रारंभ सबसे पहले हुआ बाद में राजस्थान में मुख्य रूप से इस पर कार्य हुआ, जिसमें बूंदी शैली बीकानेर शैली, कोटा शैली इत्यादि प्रमुख है।

रागमाला चित्रांकन के विवरण के अन्तर्गत राग हिंडोल के दो चित्र राग दीपक का एक चित्र, राग मालकौंस का एक चित्र अर्थात् राग के चार तथा रागिनियों में छः (भैरवी, भूपाली, मालश्री, कुकुभ, पटमंजरी, तथा ललित) रागमाला चित्रों का

विवरण दिया जा रहा है, जो कई रागमाला चित्रों पर गहन अध्ययन के पश्चात चयनित किये गये हैं। इनमें राजस्थान, बीकानेर शैली, कोटा शैली एवं मुगल शैली के अन्तर्गत हैं, जिनमें विभिन्न आकृतियों एवं रंगों के विविध संयोजनों के आधार पर राग की प्रकृति को व्यक्त किया गया है। राग-रागिनी वर्गीकरण के आधार पर रागमाला चित्रांकन रागों के जीवंतता में एक नये युग को स्थान दिया है, जो आने वाले समय में भी एक नये अध्याय के रूप में विषय को सशक्त करता रहेगा। साथ ही साथ यह संगीत एवं चित्रकला के तात्विक साम्य को भी परिलक्षित करता है।

राग - हिंडोल

राग - श्लोक

"हिन्दोलको रिधत्यक्तः सत्रयो गदितो बुधैः ।
मूर्छना शुद्धमध्या स्यादौडवः काकलीयुतः ।। 58 ।।

- संगीत दर्पण

- हिंडोल राग में रि- ध वर्जित होकर, षडज स्वर ग्रह अंश और न्यास है। मूर्छना मध्यम ग्राम की शुद्ध मध्या है तथा औडव होकर काकली नि से युक्त है।

ध्यान

नितंबिनी मन्दतरंगितासु,
दोलासु खेलासुखमादधानः ।
खर्वः कपीतदद्युतिकामयुक्तः,
हिन्दोलरागः कथितो मुनीद्रैः ।।

- जिसे स्त्रियां मंद-मंद झोंके देकर हिंडोले के ऊपर झुला रही हैं। जिस हिंडोले की डोरियां छोटी हैं। जो सुख भोगने वाला और काम से युक्त है। जो कपोल की कान्ति के समान है। मुनिजनों ने हिन्दोल राग का ऐसा वर्णन किया है।

राग हिंडोल के जो रागमाला चित्र प्राप्त हुआ है उनमें पृष्ठ 230 पर उद्धृत चित्र बीकानेर शैली के अन्तर्गत 17 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का चित्र है, जिसमें एक झूले में राधा-कृष्ण को दर्शाया गया है। झूले के दायीं ओर कुछ महिलायें खड़ी हैं, जबकि बाईं ओर कुछ संगीत-नृत्य में रत हैं, इसमें हरा, नीला, लाल और सफेद रंगों का सुन्दर समन्वय है।

जबकि राग हिंडोल का दूसरा रागमाला चित्र, जो पृष्ठ 231 पर उद्धृत किया गया है, 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डिकैनी शैली में चित्रांकित रागमाला चित्र है। इसमें एक आसन पर एक युगल (संभवत: राजा-रानी) को बैठे चित्रित किया गया है। सामने दो महिला कलाकार-एक बीणा तथा दूसरी अवनद्ध वाद्य बजाते हुये - संगीत प्रस्तुत कर रही हैं। आसन पर युगल के पीछे एक महिला मोर पंख से निर्मित पंखे जैसी वस्तु से सेवा में रत है। इस चित्र में लाल, भूरा, गुलाबी, काला, सफेद इत्यादि रंगों का सुन्दर प्रयोग किया गया है।
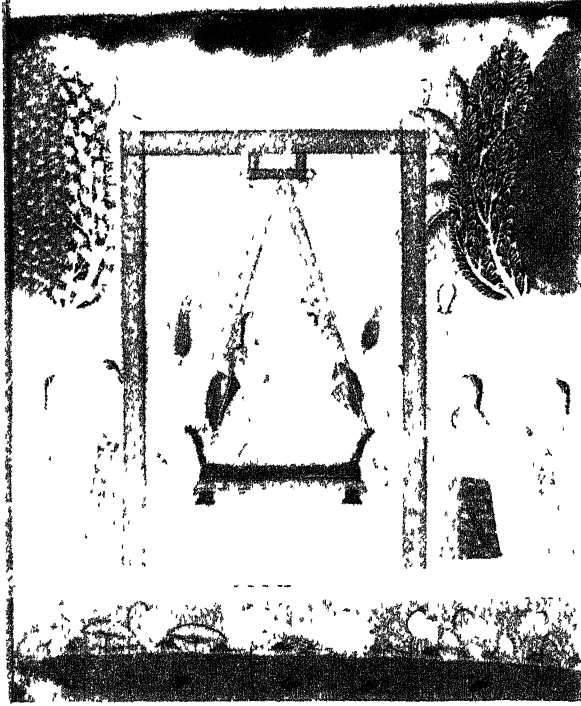
राग - हिंडोल
(बीकानेर शैली - 17वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)
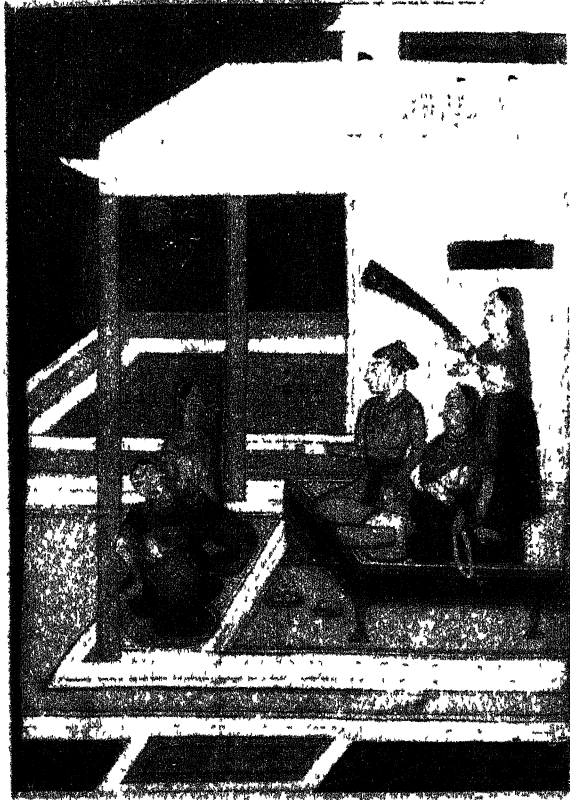
राग - हिंडोल

(डिकैनी शैली - 18 वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)

राग - दीपक

राग-श्लोक

"षडजग्रहांशकन्यासः संपूर्णो दीपको मतः ।

मूर्च्छना शुद्धमध्या स्यागदातव्यो गायकैः सदा ।। 64 ।।

- संगीत दर्पण

- दीपक राग संपूर्ण है। इसका ग्रह, अंश तथा न्यास स्वर षडज है। मूर्च्छना शुद्ध मध्या है। किसी भी ऋतु या प्रहर में यह सदा गेय है।

ध्यान -

बालारतार्थं प्रविलीनरीये

गृहेंऽधकारे सुभगं प्रवृतः ।

तस्या शिरोभूषण रत्नदीपै -

र्लज्जां दधौ दीपक राग राजः।।"

- जिसने बाला स्त्री के क्रीड़ा करने में प्रवृत्त होने पर दीपक बुझाकर

अंधकार किया है, परन्तु जिसके शिरोभूषण के रत्नों के तेज से उसे बड़ी लज्जा प्राप्त हुई, ऐसा दीपक राग है।

राग दीपक का जो रागमाला चित्र पृष्ठ 234 पर उद्धृत है वह 18 वीं शताब्दी का बूंदी शैली का चित्र है, जिसमें एक युगल जोड़ी को एक पवेलियन में पलंग पर बैठे दिखाया गया है। पूरे भवन में दीपक जलता हुआ चित्रित दिखाया गया है, जिसमें लाल, पीला, भूरा रंग का प्रयोग है।

राग - दीपक

(बूंदी शैली - 18वीं शताब्दी)

भैरवी ﴾राग भैरव की रागिनी﴿

"संपूर्णा भैरवी ज्ञेया ग्रहांशन्यासमध्यमा ।
सौवीरी मूर्च्छना ज्ञेया मध्यमग्रामचारिणी ।
केश्चिदेषा भैरववत्स्वरैर्ज्ञेया विचक्षणैः ।। 48 ।।

– संगीत दर्पण

– भैरवी रागिनी संपूर्ण है। मध्यम स्वर ग्रह, अंश तथा न्यास है। मध्यम ग्राम की सौवरी मूर्च्छना है। बहुत से विद्वान इसे भैरव के स्वरों से भी गाते हैं।

ध्यान

"स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासश्रृंगे,
विकचकमलपत्रैरर्चयंती महेशम् ।
करघृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी,
सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ।।

– रमणीय कैलास पर्वत के शिखर पर स्फटिक मणि के आसन पर बैठकर खिले हुये कमल के फूलों से जो महादेव जी का पूजन करती है,

जिसके हाथ में घनवाद्य §मंजीरा§ है। जिसका वर्ण पीला है तथा जिसके नेत्र विशाल हैं। ऐसी भैरव की भार्या भैरवी कवियों ने वर्णन की है।

रागिनी भैरवी का पृष्ठ 237 पर उद्धृत रागमाला चित्र 17 वीं शताब्दी का बूंदी शैली का है। इस चित्र में एक सफेद मंदिर के अन्दर शिवलिंग के निकट एक महिला को बैठे चित्रित किया है। पास में ही कमल के फूलों एवं पक्षियों से सुसज्जित एक तालाब भी है। इसमें सफेद लाल, नीला, इत्यादि रंगों का प्रयोग किया गया है।
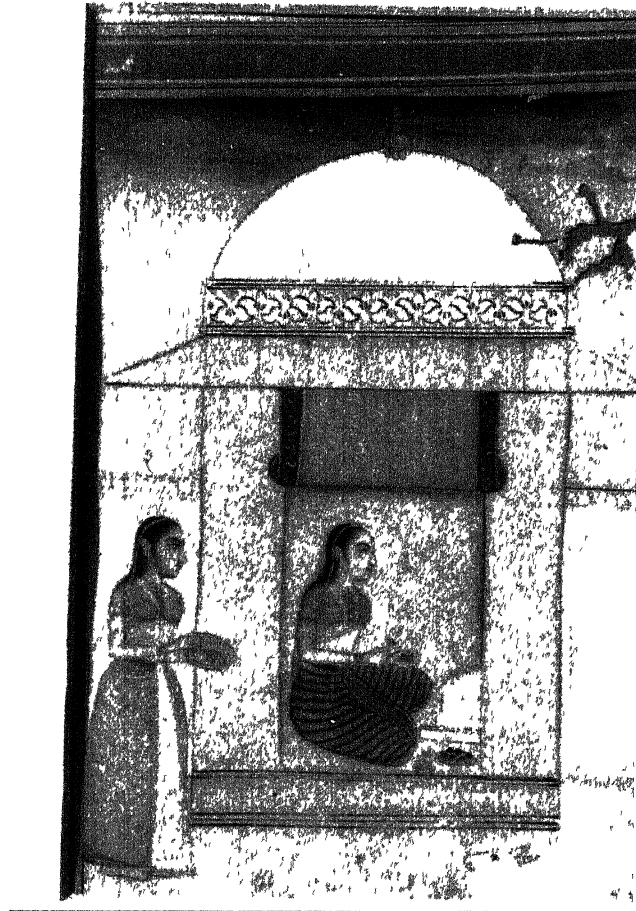
रागिनी - भैरवी

(बूंदी शैली - 17वी शताब्दी)

भूपाली (राग मेघ की रागिनी)

"षडजग्रहांशकन्यासा भूपाली कथिता बुधैः ।
मूर्च्छना प्रथमा यत्र संपूर्णा शांतिके रसे ।
कैश्चित्तु रिपहीनेयमौ वा परिकीर्तिता ।। 79 ।।

— संगीत दर्पण

— भूपाली संपूर्ण है। षडज स्वर ग्रह, अंश, और न्यास है। पहली मूर्च्छना है। इसे पंडितों ने शान्तरस में कहा है। कुछ लोग रे — प वर्जित करके औडव मानते है।

ध्यान

"गौरद्युतिः कुंकुमलिप्तदेहा ।
तुंगस्तनी चंद्रमुखी मनोज्ञा ।।
कांतंस्मरंती विरहेण दूना ।
भूपालिकेयं रसशांतियुक्ता ।।

— जो गौरवर्ण की कान्ति वाली है। जिसके शरीर पर केसर का लेप है। जिसके स्तन ऊंचे हैं। जो चन्द्रमुखी और रमणीय है।

जो विरह से त्रस्त और शान्त रसयुक्त है। ऐसी भूपाली रागिनी है।

रागिनी भूपाली का पृष्ठ 240 पर उद्धृत रागमाला चित्र 17 वीं शताब्दी का मुगल शैली का चित्र है, जिसमें एक महिला को हाथ में फूल लिये एक चौकी पर बैठे चित्रित किया गया है। एक महिला चंवर लिये हुये पीछे खड़ी है। इसमें बैंगनी, सफेद, लाल, पीला आदि रंगों का प्रयोग किया गया है।

इसके अतिरिक्त पांच अन्य महत्वपूर्ण रागमाला चित्रों का विवरण दिया जा रहा है, जो राग-रागिनी वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रमुख स्थान रखते हैं, साथ ही राजस्थानी चित्रकला की उत्कृष्टता का प्रदर्शन भी करते है।
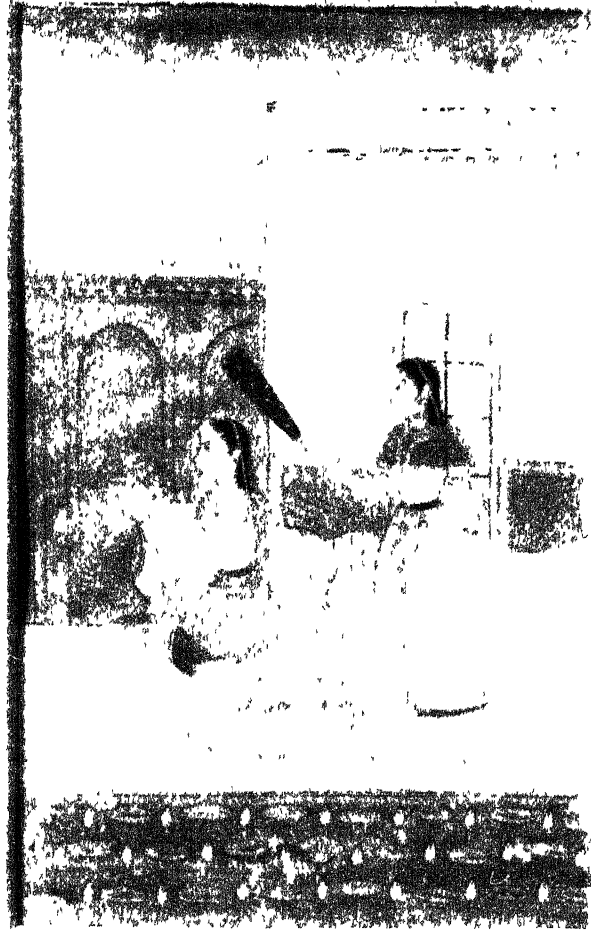
रागिनी - भूपाली

(मुग़ल शैली - 17वीं शताब्दी)

राग - मालकोश

"चतुर पुरूष केलि करत वधू निसंग धवल
सु देह तन वरन जु स्याम है।
सरस सुगंध हाथ छरी हु विरजि रही तिय
पर वनी गजमोतिन की माल है ।।
भयौ कंठ हरतै प्रगट संपूरन जाति
"स र ग म प ध नि" सरज ग्रह ग्राम है ।
संसिर रिति सुरभि रैन चौथै ही पहर गाय
नायक सरूप "मालकोश" नाम राग है।।[1]

- एक अत्यंत आकर्षक सुनहरी मंडप के नीचे श्यामवर्ण छत्रधारी चतुर पुरूष, गज-मुक्ता की माला धारण किये हुये, हाथ में पुष्प छड़ी लिये सिंहासन पर विराजमान है। सिंहासन के पीछे सुंदर राजसी चिह्न किरणिया लिये खड़ी है तथा सामने गायिकायें नृत्यमग्न हैं। शिवजी के कंठ से निकला यह राग शिशिर ऋतु में रात के चौथे प्रहर में गाया जाता है।

---

1 निबंध संगीत, श्री ल. ना. गर्ग, लेख - राजस्थानी चित्रकला में रागों का स्वरूप, पृ. 433.

पृष्ठ 243 पर उद्धृत राग-मालकोश का रागमाला चित्र 18 वीं शताब्दी का राजस्थानी शैली का चित्र है, जिसमें एक युगल को चौकी पर बैठे दिखाया गया है। सामने एक स्त्री परिचारिका खड़ी है। पीछे एक स्त्री परिचारिका चंवर डुला रही है तथा नीचे बायें एक स्त्री खड़ी है। नीचे तालाब में बतख चित्रित हैं। लाल, पीला, नीला, काला आदि रंग चित्र में स्पष्टतः परिलक्षित हो रहे है।
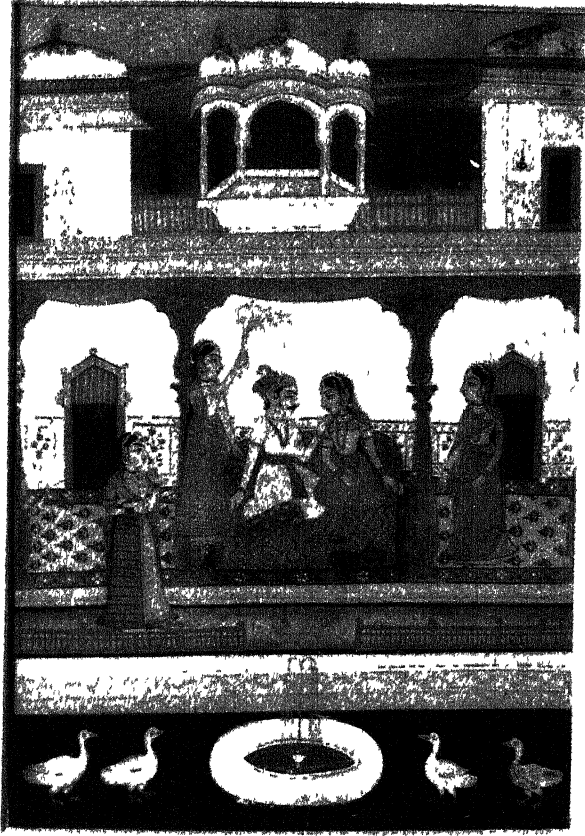
राग - मालकोश

(राजस्थानी शैली - 18 वीं शताब्दी)

मालश्री (राग - श्री की रागिनी)

कवित्त

"अब तरू तरै नारि बैठी रति अनुहारि वस्त्रन
अरूण आंगी चंगी रंग पीत है ।
आलीकर उपरिसु निजकर धारैं रहै बिछर्यो है
मीत तऊ हसत न चीत है ।।
मूरति विसाल बाल मूरति मृनाल जनु संपूरण
"स रि ग म प ध नि" रस चीत है।
हेम रति दूजे जाम "मालसरी" खरिज
गावत प्रवीन है।"

- आमवृक्ष के नीचे अटारी के पास यह नायिका सिंहासन पर बैठी है और सामने एक दासी सेवा-रत खड़ी है। नायिका लाल रंग की सुंदर कंचुकी तथा पीले रंग की सुनहरी पोशाक धारण किये हुये है। परन्तु वह न हँसती है और न बात करती है, क्योंकि प्रियतम से बिछुड़ी हुई है। हेमन्त ऋतु में रात्रि के दूसरे प्रहर में गाई जाती है।

पृष्ठ 245 पर उद्धृत रागिनी मालश्री का रागमाला चित्र राजस्थान की बीकानेर शैली का 17 वीं शताब्दी का रागमाला चित्र है, जिसमें एक चारपाई पर एक स्त्री को बिठाये चित्रित किया गया है, जो हाथों में फूल लिये है। दो स्त्रियां पीछे खड़ी है तथा एक आगे खड़ी है। नीचे दो महिलायें संगीत की प्रस्तुति में लीन हैं। एक स्त्री सामने बैठी है। इस चित्र में लाल, सफेद, काला आदि रंगों का प्रयोग किया गया है।

रागिनी - मालश्री

(राजस्थान-बीकानेर शैली - 17 वीं शताब्दी)

कुकुभ (राग - मालकोश की रागिनी)

कवित्त

"अति रंग रसीली ने मानी रति प्रीतम सौं
मलै सिंगार अंग आंगी उर दरकी ।
भरी है विलास निज जागे पै उनींदे नैन
टूटे सब हार छूटे बार चूनी करकी ।।
नैनन की छवि देखि अरुण कमल मोहे
"ध नि सा रे ग म प" संपूरन सुर की।
निसि चौथे जान इहै धवत स स दिन इह
रागनी "कुकुभ" जनू कला सुधाधर की।।

- यह रति प्रीता नायिका एक सुंदर मंडप में सुसज्जित पलंग पर मसनद लगाये बैठी है और आकाश अर्द्ध चन्द्र के चारों ओर तारों से छाया हुआ है। यह रागिनी संपूर्ण श्रृंगार साधे अंग को मोड़-तोड़ रही है और इसके हृदय से आग निकल रही है। विलास-भरी होने के कारण नींद की कमी से लाल कमल युक्त मोहित करने वाली आंखे टूटी जा रही है। इसके हार, हस्त कंकन आदि गिरे जा रहे हैं। पलंग के पास खड़ी दासी उसे दर्पण दिखा

रही है। रागिनी के मूल स्वर "ध नि स रे ग म प " है और शिशिर ऋतु के चौथे प्रहर में गाई जाती है।

पृष्ठ 248 पर उद्धृत रागिनी कुकुभ का रागमाला चित्र, राजस्थान की बीकानेर शैली का 17 वीं शताब्दी का चित्र है, जिसमें एक स्त्री को नदी के किनारे चित्रित किया गया है जिसके दोनों हाथों में एक कमल की कली तथा सफेद फूलों की माला है। इसके दोनों ओर दो मोर खड़े हैं। पीछे बायीं ओर दो स्त्रियां खड़ी हैं, जिनमें से एक के हाथ में वीणा है। इस राग माला चित्र में लाल, हरा, नीला, सफेद इत्यादि रंगों का सुन्दर समन्वय है।

रागिनी - कुकुभ

(राजस्थान - बीकानेर शैली - 17 वीं शताब्दी)

पटमंजरी (राग हिंडोल की रागिनी)

कवित्त

"सूखी फूलमाल गरि विरह बिहाल पिय बिनु
प्रान छिन जात छिन आतु है ।
भावत न भोजन भवन नींद आवत न सेज है
अकेली मौ दुहेली अनखातु है ।।
पंचम जुवन मैं प्रवीन बिन तन धीन
"प ध न स र ग म" संपूरन की जातु है।
नाम "पटमंजरी" ये विरह दुख बिजरी
सरस बसंत गुनि गाई अध रातु है ।।

- यह विरह-व्यथित नायिका है, जो महल में बिछी सेज के आगे खड़ी हुई है। दोनों हाथों में पुष्प मालायें हैं, परन्तु विरह-अग्नि से सूख गई हैं। भोजन भी अच्छा नहीं लगता तथा भवन में सेज पर नींद भी नहीं आती है। इस प्रिया को अकेलापन अलखावणा लगता है और पति की अनुपस्थिति में तन छीजा जा रहा है। यह रागिनी संपूर्ण है तथा "प ध नि सा रे ग म" स्वरों में गाई जाती है। इसका समय विरह-दुःख के कारण अर्द्धरात्रि दिया गया है।

पृष्ठ 251 पर उद्धृत रागिनी पटमंजरी का रागमाला चित्र राजस्थानी शैली में बीकानेर शैली का 17 वीं शताब्दी का चित्र है, जिसमें एक चारपाई पर एक स्त्री बैठी है, जिसके सामने दोनों ओर एक-एक स्त्रियां विराजमान है। जिनमें से एक वीणा वादन कर रही है, ऊपर एक युगल बातचीत में रत है तथा नीचे बगल में एक खाली चारपाई स्थित है। इस रागमाला चित्र में लाल, सफेद, हरा, काला इत्यादि रंगों का सुन्दर समन्वित ढंग से प्रयोग किया गया है।
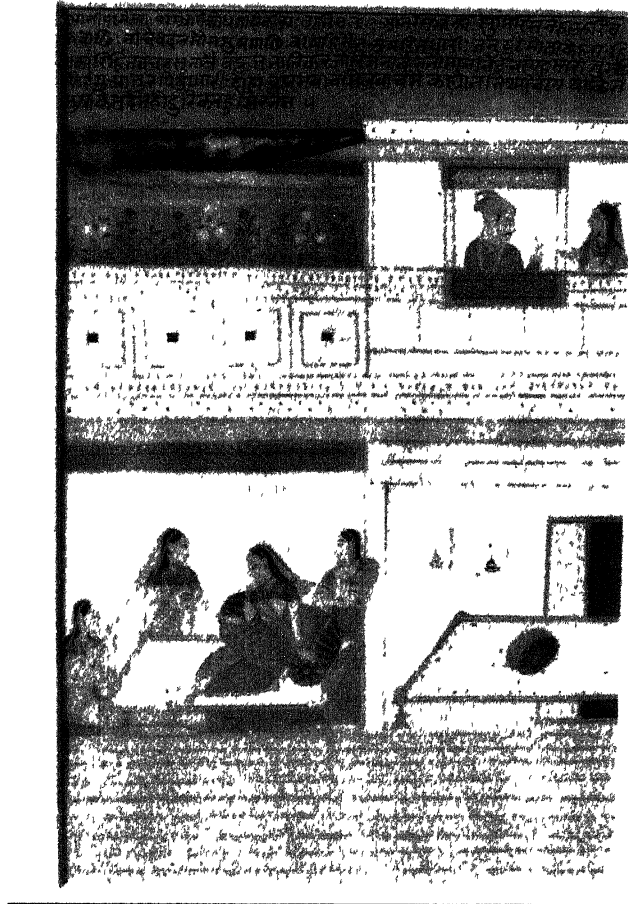
रागिनी - पटमंजरी

(राजस्थान- बीकानेर शैली - 17 वीं शताब्दी)

ललित (राग हिंडोल की रागिनी)

कवित्त

"गोरे अति बरन पहुप गरि माल बाल भूषन
विशाल सेज पोढी जो रसाल है ।
कंठ पीक लीक दीसै बोलत अमी से बोल
सुधा निधि याते कहा अधिक विशाल है ।।
अनत रहत चीर दिपति अपार रूप
जगत को मोल धनि संगम सुबाल है ।
ओडत कहत ग्रह धैवत बसंत प्रात ऐसी
विधि "ललित" बखानी गुनीचाल है ।।

- संसार की मूल्य करने वाली अत्यंत गौरवर्णी यह नायिका भरपूर यौवन-मस्त कसूमल पोशाक के साथ नख-शिख श्रृंगार धारण किए हुये सेज पर लेटी हुई है। कंठ इतना कोमल है कि तांबूल सेवन से पीक की लकीर दिखाई देती है। अमृत वचन बोलने वाली यह तरुणी एक सुधाकोष है। नायक प्रात:काल हुआ देखकर नायिका को शयन मुद्रा में छोड़ता हुआ एवं पीछे की ओर देखता हुआ बाहर निकल रहा है। पास में खड़ी दासी नायिका को पंखी से हवा कर रही है। औडुव जाति की इस रागिनी का समय बसंत-ऋतु का प्रात:काल है।

पृष्ठ 254 पर उद्धृत रागिनी ललित का रागमाला चित्र 17 वीं शताब्दी का राजस्थान बीकानेर शैली का चित्र है, जिसमें एक चारपाई पर एक स्त्री को लेटे दिखाया गया है, जिसे एक स्त्री परिचारिका पंखे से हवा कर रही है। बायीं ओर एक पुरूष, स्त्री को देखते हुये जा रहा है। नीचे सीढ़ियों पर एक पुरूष बैठा है, दो पुरूष संगीत गान प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें से एक के हाथ में वीणा है। दाईं ओर नीचे एक तैयार घोड़ा खड़ा है। इस चित्र में लाल, हरा, नीला, सफेद इत्यादि रंगों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत एवं चित्रकला के तात्विक साम्य को प्रदर्शित करता हुआ ये रागमाला चित्र एवं चित्रांकन राग-रागिनियों के संदर्भ में एक सशक्त आधार प्रस्तुत करते हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन एक नये आयाम का सूत्रपात करता है।

—— . ——
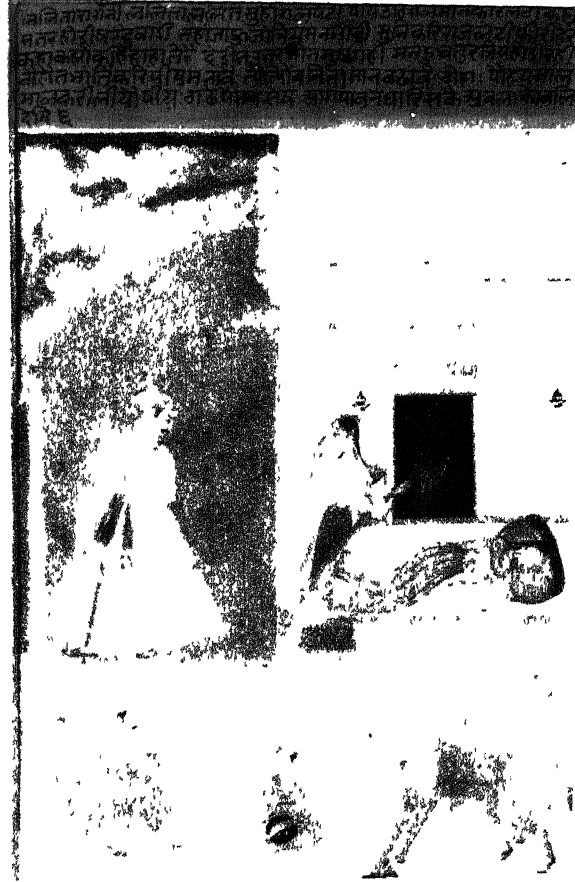
राागिनी - ललित

(राजस्थान - बीकानेर शैली - 17 वीं शताब्दी)

अध्याय

पंचम

अध्याय - पंचम

भारतीय संगीत एवं लोकजीवन : सांस्कृतिक-सामाजिक स्वरूप

भारतीय संगीत को जब भी सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिदृश्य में देखा जाता है तो प्रथमतः यह तथ्य तुरंत सामने आता है कि संगीत को हमारे देश में पुरातन काल से संस्कृति का एक अभिन्न अंग माने जाने की सशक्त परंपरा रही है। एक तरफ तो इससे हमारे देश के गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा का बोध तो होता ही है वहीं दूसरी ओर संगीत से हमारे धार्मिक एवं सामाजिक परिवेशगत परिस्थितियों के क्रमानुगत विकास का सहज परिचय भी हो जाता है। क्योंकि भारतीय साहित्य और भारतीय कला के समान भारतीय संगीत भी शताब्दियों की अमूल्य देन मानी जाती है, क्योंकि ऐतिहासिक पगडंडियों के द्वारा परंपराओं से वे निखर कर सामने आये हैं। भारतीय संगीत का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। प्राचीन समय से ही यह हमारे आध्यात्मिक एवं भावात्मक

जीवन का अनिवार्य अंग रहा है। यह हमारे समाज एवं संस्कृति से प्रारम्भ से ही जुड़ा है, अतः यह कहा जा सकता है कि लोक-जीवन के यह सबसे सन्निकट है। इतना ही नहीं हमारी कलात्मक अनुभूतियों एवं सांस्कृतिक परिवेश से इसे बहुत प्रोत्साहन मिला है। यदि यह कहा जाये कि कला सौंदर्य उपासना का सजीव प्रतीक और सशक्त माध्यम है तो यह अकाट्य सत्य होगा कि भारतीय संगीत की प्राचीन परंपरा, जिसका जन्म वैदिक युग में हुआ था, हमारी आध्यात्मिक और रसात्मक भावनाओं तथा सांस्कृतिक समाजीकरण के परिवेश से पूरी तरह संबंधित रहा है। इसीलिये ऐतिहासिक अध्ययन के दौरान, सामाजिक परिवेश एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। भारतीय संगीत मंदिर में जन्म लेकर धर्म एवं अध्यात्मय द्वारा अभिसिंचित होकर परिमार्जित कला के रूप में विकसित हुई है। साथ ही हमारे जन जीवन लोक जीवन का भी यह प्रारंभ से ही एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। क्योंकि प्राचीन काल से ही सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण के साथ-साथ जुड़े रहने तथा हमारे जन-जीवन के साथ जुड़ाव होने के साथ संगीत मानव जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू से जुड़ गया है। जब हम जन-जीवन या लोक जीवन से संगीत के निकटतम जुड़ाव की बात करते हैं तो यह देखना आवश्यक हो जाता है कि लोक जीवन का प्रासंगिक भावार्थ क्या बन पड़ता है। जो साहित्य एवं संगीत-दोनों की दृष्टि से समन्वित स्वरूप का बोध कराता हो।

लोक जीवन एवं संगीत

संगीत का जन जीवन से बहुत गहरा संबंध है। चूंकि मानव मन के अन्तर्निहित भावों को व्यक्त करने में जितना यह सक्षम है, संभव है, वही सामंजस्य इसे जनजीवन के अत्यंत निकट ले जाता है। चाहे संगीत के जानकार हों अथवा नहीं, संगीत से लगाव तथा संगीत के किसी-न-किसी प्रकार से जुड़ाव मानव की एक विशेषता है, लौकिक परमानन्द की प्राप्ति के प्रति जिज्ञासु प्रकृति का परिचायक है। जन-जीवन से जुड़े इसी संगीत को लोक संगीत कहते हैं। लोक शब्द का प्रयोग वैसे नया नहीं है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से ही मिलने लगा था। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भी लोक-धर्म-प्रवृत्ति की चर्चा की है। मतंग मुनि ने बृहद्देशी में "लोकानां नरेन्द्राणां" का उल्लेख किया है।

प्राकृत के लोअत्पवाय (लोक-प्रवाद) तथा अपभ्रंश के "लोक जत्ता" के लोक समानार्थ शब्द भी अभिन्न जान पड़ते हैं। अशोक के शिलालेखों में भी "अनुवत्तरं सर्वलोक हिताय" तथा "नास्तेहि कम्मतरं सर्व-लोक-हित्प्या" के प्रयोग द्वारा लोक का विशिष्ट अर्थ सूचित किया गया है।[1] यही नहीं, लोक शब्द का प्रयोग वेद के समानान्तर

---

1 निबंध संगीत, श्री गर्ग, पृ. 73.

भी मिलता है। गीता का "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः" भी लोक और वेद दोनों को स्वीकार करता है। वैदिक साहित्य के साथ ही आधुनिक स्वरूप में भी इसका प्रयोग होता है तथा जब हम कहते हैं कि लोक कला, लोक संगीत, लोक संस्कृति तो यहां लोक का प्रयोग आधुनिक अर्थ में ही किया जाता है। मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि भारतीय संगीत को जब हम वर्गीकृत करते हैं तो इसके निम्न प्रकार सामने आता है - शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत और लोक संगीत। इनमें से जहाँ तक लोक संगीत का प्रश्न है, यह समाज के संभवतः सबसे सन्निकट है। क्योंकि हमारा समाज समय-समय पर विभिन्न वर्णों, जातियों एवं संस्कारों के संपर्क तथा मिश्रण से गठित हुआ है, इसलिये विविध परतों को भेदकर किसी भी विषय के मूल में पहुंच जाना और उसका वास्तविक रूप हृदयंगम कर पाना लोक जीवन से ही संभव है। और सामान्यतया अपेक्षाकृत अधिक जागरूक शिष्ट समाज ही सभ्यता मूलक परिवर्तनों से लाभान्वित होता आया है। संगीत समाज एवं धर्म से हमेशा से जुड़ा रहा है। अतः प्रत्येक युग में यह लोक जीवन से भी जुड़ा रहा है।

वैसे लोक प्रभाव की दृष्टि से जैन अथवा बौद्ध युग भी विशेष उल्लेखनीय रहा है और जैन-बौद्ध धर्म के अभ्युदय का प्रभाव संगीत के विकास पर भी पड़ा था। संपूर्णता की दृष्टि से जब हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि भारतीय संगीत का इतिहास तो प्राचीन है

ही साथ ही भारतीय परंपराओं में संगीत का उद्गम वेदों से माना गया है। मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष में अध्ययन यह बताते हैं कि संगीत का जन्म सर्वप्रथम यज्ञादि के अवसरों पर गेय मंत्रों के रूप में हुआ। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही मठों-मंदिरों में संगीत को प्रश्रय मिला। भारतीय परंपरा के अनुसार संगीत के उद्गम के साथ ही साथ लोक संगीत का भी जन्म हुआ।

लोक एवं लोक संगीत

लोक शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है। वेदों और उपनिषदों में भी लोक शब्द का प्रयोग हुआ है।

"लोक" शब्द से ही बोलचाल की भाषा का शब्द लोग बना है, जिसका अर्थ है, जनसामान्य, अतः लोक संगीत का अर्थ हुआ "लोक का संगीत" अर्थात् जनसामान्य द्वारा गाया जाने वाला गीत-संगीत। वास्तव में लोक संगीत का इतिहास मानव द्वारा स्वयं का निर्मित इतिहास है। जैसे-जैसे मानव का मानसिक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास होता गया वैसे-वैसे लोक संगीत का भी विकास होता गया।

लोक जीवन, ग्राम्य जीवन से सीधे-सीधे जुड़ा हुआ है और ग्रामीण जीवन में आज भी प्राचीनता का आभास किसी-न-किसी रूप

में हमें प्राप्त होता है। विभिन्न जाति, धर्म, रीति, रिवाज़ की यदि समीक्षा की जाये तो अन्य बातों के अलावे संगीत में भी यह अन्तर दृष्टिगोचर हो सकता है, क्योंकि संगीत मानव जीवन का अभिन्न अंग है, जो कुछ हम अनुभव करते हैं, भाव करते हैं, जीते हैं वही संगीत के रूप में प्रकट होता है। इतना ही नहीं यह मानव-जीवन के हरेक पहलु के साथ जुड़ा हुआ है। जीवन से पृथक इसका अस्तित्व संभव नहीं है। मानव जीवन के अभाव में न तो किसी भाषा की पुष्टि होती है न उसमें गीत-संगीत रचे जाते हैं और न ही उसमें संस्कृति का आभास ही मिलता है।

मानव जीवन में भावना एवं कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है। और यह मन-मस्तिष्क से संबंधित भी है। भावुक हृदय समस्त सृष्टि को काव्यमय देखना चाहता है। इसी भावुकता के क्षणों में लोकगीतों का जन्म हुआ।

लोक संगीत प्रकृति की देन है। जिस सृष्टा ने मानव जाति की सृष्टि की है, उसी ने अपने जीवन में सरसता लाने की, उसे अधिकाधिक सरस बनाने के लिये उसी की मानस गंगोत्री के मुखद्वार से गीतों की गंगा बहाई है।

लोक गीत एवं लोक साहित्य से अटूट संबंध है। लोक संगीत अत्यन्त पुराना भी है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके

सामान्य लोक व्यवहार को उपयोग में लाने के लिये मानव अपने आनन्द में छंदोबद्ध वाणी की सहज अनुभूति उद्भूत करता है, वही लोक संगीत है। यहाँ भी संगीत के मूल तत्व स्वर-लय तो वही रहते हैं - लोक जीवन के रंग में इसका बाह्य स्वरूप बदल जाता है। लोक संगीत में लोक शब्द का व्यापक अर्थ बन जाता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार,

> "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों में और ग्रामों में फैली वह सम्पूर्ण जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है।"

महाकवि निराला जी के अनुसार,

> "हृदय की भावनायें जब तरंगित होकर प्रकृति के मध्य बहने लगती हैं तो लोक संगीत का जन्म होता है।"

डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय ने लोक संगीत के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है -

> "लोक गीतों की आत्मा लोक संगीत है। लोक जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोक गीतों एवं लोक संगीत में दिखाई देता है, क्योंकि लोक गीतों में शब्दों एवं स्वरों में कृत्रिमता का अभाव रहता है। लोक गीत सरल, सुन्दर, अनुभूतिमय तथा संगीतमय होते है।"

मानव चाहे सभ्य हो या असभ्य, उसमें अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। आदिमानव स्वानुभूति से प्रेरित होकर जब कभी सुख या दुःख की संवेदना से आंदोलित हुआ तभी लोक गीतों की स्वर धारा लयवद्ध होकर निकलती है, तभी गीत का स्वरूप धारण कर लेती है।

आज से कई हजार वर्ष पूर्व जब मानव जाति असभ्य थी तब भी उसके हृदय में प्रकृति और जीवन सौंदर्य के प्रति आकर्षण था, अनुभूति थी, उदगार थे। सौंदर्य से विमुग्ध उस मानव के हृदय में तब भी चपल उमंगों की हिलोरों का स्वर उठा करता था। धीरे-धीरे उसका विकास हुआ और साथ ही समाज का भी, तब उसने संगीत के साथ, समूह के नृत्य को भी पहचाना। इस गीत अथवा नृत्य के प्रचार का यह फल हुआ कि उसने परस्पर की भाव भंगिमा

और उद्गारों की गहराई का अनुभव करते हुये आपसी प्रेम, सद्भावना, संगठन और प्रत्येक अर्थ में अपनत्व की भावना को पहचाना तथा अपने जीवन में उन्हें प्राथमिकता प्रदान कर सभ्यता की एक नई धारा की ओर अग्रसर किया। यही संगीत लोक संगीत के नाम से प्रचलित हुआ।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपनी अनुभूतियों को किसी-न-किसी रूप में सदा से अभिव्यक्त करता आया है। संगीत मानव मन की अभिव्यंजना, मधुरता से कर देता है। भाव और हृदय का संगम अपूर्व है। भावपूर्ण रचना सहज ही मन को आकृष्ट कर लेती है। इसी लिये संगीत जब भाव प्रधान होता है तो शास्त्रीय संगीत का किंचित मात्र भी ज्ञान न रखने वाले साधारण व्यक्ति भी रस विभोर हो उठते हैं।

"लोक" शब्द पर अगर पुनः विचार करते हैं तो पाते हैं कि "लोक" शब्द के कई अर्थ हैं - स्थान विशेष, संसार, प्रदेश, जन या लोग, समाज, प्राणी, यश इत्यादि। "लोक" के दो अर्थ विशेष उल्लेखनीय है - एक तो स्थान विशेष के संदर्भ में। जैसे उपनिषदों में ईहलोक और परलोक का उल्लेख मिलता है। पौराणिक काल में सात लोकों की कल्पना हुई है - भू-लोक [भुवलोक], स्वर्गलोक, महललोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक एवं ब्रह्मलोक, "लोक" शब्द संस्कृत के लोक दर्शने धातु से बना है, इनका अर्थ है देखना, इनका मूल अर्थ बनता

है, देखने वाला। डॉ० श्याम परमार के अनुसार -

> "लोक साधारण जन समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुये समस्त प्रकार के मानव शामिल हैं। यह शब्द वर्ण भेद रहित व्यापक एवं परंपराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता, संस्कृति के कलामय विवेचन का द्योतक है। भारतीय समाज में नगरीय एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्राय: उल्लेख मिलता है। किन्तु लोक दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है, क्योंकि वही समाज का गतिशील अंग है।"

लोक जीवन से जुड़ा गीत लोक संगीत या लोक गीत कहलाते हैं। यह लोक संस्कृति से जुड़ा है।

विद्वानों के अनुसार लोक संस्कृति, लोक विश्वास एवं लोक परंपरा की रक्षा एवं निर्वाह करते हुये लोक जीवन अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों की तत्स्फुर्न लयात्मक अभिव्यक्ति जिस माध्यम से करता है, उसे लोक गीत कहते हैं।

लोक संगीत एवं लोक कला

ललित कला के अन्तर्गत संगीत को प्राप्त महत्वपूर्ण स्थान को देखते हुये लोक कला का भी विशद विवेचन संगीत के संदर्भ में हमारे विद्वानों ने किया है। लोक संस्कृति से प्रभावित कला का वह पहलु जो लोक जीवन में जन-सामान्य में प्रचलित हो, वह लोक कला कहलाती है। लोक कला का वही क्षेत्र होता है, जो लोक संगीत का होता है। इस प्रकार की कलाभिव्यक्ति में शास्त्रीय नियमों का बहुत बंधन नहीं होता है। लोक जीवन के सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित मानव मन अपनी अन्तर्अनुभूतियों के प्रकटीकरण में अपने लोक संस्कृति का आधार लेता हुआ स्वतंत्र मन से इन कलाओं में अभिव्यक्ति करता है।

लोक कला के संदर्भ में विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि कला की सदा से दो श्रेणियां रही हैं - लोक कला तथा वर्ग-विशेष की कला। देश काल तथा परिस्थिति के मान से दोनों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी दोनों का एकरूप नहीं होता। शास्त्रीय संगीत का आधार यद्यपि लोक संगीत माना जाता है, तथापि दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है। जैसे कुछ व्यक्ति शास्त्रीय संगीत का अर्थ "ख्याल" समझते हैं, वैसे ही कुछ लोग लोक संगीत का अभिप्राय "ग्राम्य संगीत" समझते हैं। वस्तुतः "लोक संगीत" उसी को कहा जा सकता है जिसका स्वरूप लोकरंजनकारी है तथा किसी विशिष्ट जन समुदाय की समझ तक ही जो मर्यादित नही है। बहुजन समाज की

अंत:स्थली को संगीतामृत से सिंचित करने वाले ऐसे लोक संगीत की उपादेयता प्रत्येक देश में विद्वानों के अध्ययन का विषय बनी हुई है।

साहित्यिक दृष्टि से लोक संगीत का क्षेत्र शास्त्रीय संगीत से कहीं अधिक व्यापक है। डॉ० चिंतामणि उपाध्याय के शब्दों में -

> "लोक गीतों में मानव-हृदय के भाव लोक जीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, हर्ष-विमर्श, प्रणय एवं कलह आदि के रूप में व्यक्त हुए हैं। लोक गीतों की इस अभि-व्यक्ति में हमें मानव-जीवन की उस प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं, जहां साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास, प्रेम एवं घृणा आदि भावों को प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टाचार के कृत्रिम बंधनों को स्वीकार नहीं करता। स्वच्छन्द भावना और उसकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति लोक गीतों का प्रथम लक्षण है।"

लोक संगीत में उलट चाल बदलने की तथा टेक उठाने की क्रिया बहुत

मनोरंजक होती है। जुगलबंदी भी रहती है तथा गायन का चरमोत्कर्ष करने का उसका अपना विशेष ढंग है। शास्त्रीय संगीत में भी जुगलबंदी होती है किन्तु मुख्यत: वहां व्यक्ति प्रधान ही है और गायन का चरमोत्कर्ष करने का एक विशेष ढंग होता है। संगीत चाहे लोक संगीत हो या शास्त्रीय संगीत, अपने-अपने नियमों के बंधन में रहते हुये जब भावनाओं के प्रकटीकरण चरमोत्कर्ष पर होते हैं तो संगीत का प्रस्फुटीकरण होता है और वह होता है मन को छू लेने वाला प्रकटी-करण जो परमानन्द की अनुभूति कराता है। जब यह लोक समाज व संस्कृति के इर्द-गिर्द होता है तो इसे लोक संगीत या लोक गीत कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिये लिखे गये गीतों को लोकगीत कहा जाता है।

विभिन्न विद्वानों ने लोक संगीत के बारे में अलग-अलग परिभाषायें दी हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक संगीत जन सामान्य का संगीत है, जन सामान्य वर्ग जब सहज रूप से अपने मन के भावों को अपने कंठ द्वारा भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है तो लोक संगीत बनता है। लोक-संगीत को हम सहज संगीत भी कह सकते हैं। क्योंकि इसमें कोई नियम, बंधन, कृत्रिमता तथा नाटकीयता नहीं होती। इसमें लोक जीवन का सीधा सादा परिचय होता है। लोक संगीत में लोक जीवन का सुन्दर प्रतिबिंब देखने को मिलता है।

जीवन और संगीत के नैसर्गिक संबंधों का जितना वास्तविक परिचय हमें लोक संगीत द्वारा मिलता है उतना शास्त्रीय संगीत में नहीं मिल पाता है। वैसे तो ललित कला का कोई भी रूप हो, उसमें आकर्षण एवं सौंदर्य अवश्य होता है, किन्तु उसके शास्त्रीय रूप का निर्माण और विकास मुख्यत: हृदय और बुद्धि के समन्वयात्मक प्रयत्नों से होता है।

लोक संगीत स्वाभाविक होता है। इसे जब हम बंधन में रखते हैं अथवा नियमबद्ध करते हैं तो वह शास्त्रीय रूप धारण करता है। जो अधिक सुसंस्कृत और व्यवस्थित होता है। लोक संगीत सभी शास्त्रीय नियम बंधनों से मुक्त होता है, इसलिये अनुकरण मात्र से सीखा जा सकता है।

भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा भारतीय साधारण जनता है, जो नगरों से दूर गांवों में, पहाड़ियों पर, कस्बों में निवास करते हैं। ये भारतीय संस्कृति के जीवित-जागृत प्रहरी हैं। लोक संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को जो सबसे महत्वपूर्ण दान दिया है, वह है आत्मीयता। क्योंकि अपने समान सभी को समझना यह भाव भारत के अतिरिक्त किसी भी देश की संस्कृति में नहीं है।

जब हम लोक संस्कृति की बात करते हैं और भारतीय संस्कृति के परिपेक्ष में देखते हैं तो पाते हैं कि भारतीय संस्कृति में लोक संस्कृति

का समावेश प्राचीन काल से ही समविष्ट है। कारण है कि इतिहास के आरंभ से अबतक के समय को देखते हुये भारत में विभिन्न धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक विचारधाराओं का समन्वय लोक संस्कृति द्वारा हुआ माना जाता है। भारत में वैदिक युग से ही विभिन्न संस्कृतियों का समागम होना प्रारंभ हुआ है और यही परंपरा अब तक संचरित है। भारतीयों ने विदेशों में जाकर और विदेशियों ने भारत में आकर सांस्कृतिक आदान-प्रदान किया है। यह आदान-प्रदान संस्कृति के प्रतिनिधियों द्वारा हुआ जो शिक्षित, राजनीतिक तथा उपदेशक थे, इससे हमारी भारतीय संस्कृति में परिवर्तन हुए, विकार भी उत्पन्न हुये किन्तु वह विनष्ट या लुप्त इसलिये नहीं हुई कि इस आदान-प्रदान में लोक संस्कृति अलग रही वह निष्कलुष, निर्विकार बनी रहकर भारतीय संस्कृति के पौधे को पनपाती और परिमार्जित करती रही।

लोक संस्कृति और लोकोत्तर संस्कृति में उतना ही अंतर है जितना कि श्रद्धा और तर्क, सहज और सजावट में होता है। लोक संस्कृति प्रकृति की गोद में पलती और पनपती है। लोकेत्तर संस्कृति आग उगलती हुई चिमनियों, हुंकार करती हुई मशीनों और विद्युत बल्बों से प्रदीप्त नगरों में निवास करती है। लोक संस्कृति के उपासक या संरक्षक बाहर की पुस्तकें न पढ़कर अन्दर की पुस्तक पढ़ते हैं। उनके हृदय सरोवर में श्रद्धा के सुमन सदैव फूले रहते हैं। लोकेत्तर संस्कृति के उपासकों, संरक्षकों में धन, पद, शिक्षा का स्वाभिमान

रहता है तथा तर्क की चिनगारियां सुलगती रहती हैं।

लोक संस्कृति की शिक्षा प्रणाली में श्रद्धा भक्ति की प्राथमिकता रहती हैं। उसमें अविश्वास तर्क का कोई स्थान नहीं रहता। इसी से ज्ञान और सिद्धि की सहज प्राप्ति भी होती है -

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेंद्रिय:"

उक्त कथन भगवान श्रीकृष्ण के मुख से उच्चारित हुआ है।

लोक संस्कृति में श्रद्धा भावना की परंपरा शाश्वत है, वह अंत:सलिला सरस्वती की भांति जन जीवन में सतत् प्रवाहित हुआ करती है। वस्तुत: लोक संस्कृति एवं लोकेत्तर संस्कृति का बीज एक ही है। स्थान, काल, वातावरण की विभिन्नता से ही वह विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यह लोक संस्कृति ही है जो भारतीय संस्कृति और भारत देश को जीवन्त बनाया इसलिये कि इसमें जीवन है। प्राणद स्पर्श और समन्वय के अन्तत: स्रोत हैं, अतएव इस यथार्थ संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन करना हमारा सांस्कृतिक कर्तव्य है।

लोक संस्कृति का प्रभाव हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। क्योंकि भारतीय लोक जीवन से यह संस्कृति हमारी सुदीर्घ इतिहास का अमृत फल है। लोक-राष्ट्र भी अमूल्य निधि है। हमारे इतिहास में जो भी सुंदर, तेजस्वी सत्य है, वह लोक में कहीं-न-कहीं सुरक्षित है।

भारतीय लोक संस्कृति में आत्महित और जगत हित का सुंदर समन्वय ओत-प्रोत दिखलाई पड़ता है। संस्कृति शब्द का सम्यक् कृति शास्त्रानुसार संस्कृति पांच भागों में विभक्त है - धर्म, दर्शन, इतिहास, वर्ण और रीति। लोक जीवन को आदर्श जीवन में परिवर्तित करने के लिये पांचों अंग आवश्यक है। और ये ही पांचों अंग एक दूसरे को परिपूर्ण करते हैं तथा भारतीय संस्कृति की मानसिकता को स्थापित करते हैं।

संगीत एवं समाज

वर्तमान सामाजिक परिवेश में विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में सामाजिक जागृति के अन्तर्गत संगीत के प्रति जागरूकता में काफी वृद्धि हुई है। समाज के हर वर्ग में इसे अब काफी सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो गया है। मनुष्य चाहे किसी भी जाति, वर्ग या समाज से जुड़ा है, संगीत के प्रति सम्मान बढ़ा है। यह रूझान, संगीत के श्रोता के रूप में तथा अपने परिवारजनों को, बच्चों को संगीत की तालीम दिलाने के संबंध में स्पष्ट दिखाई देती है। आज शैक्षणिक संस्थानों तथा संगीत संबंधी विद्यालयों में भी संगीत का प्रचार-प्रसार बहुत बढ़ गया है। जन सामान्य के मन में संगीत के प्रति जागरूकता एवं लगाव के पीछे आज कला प्रेम एवं मीडिया तंत्रों का भी भरपूर योगदान है। इतना ही नहीं आकाशवाणी-दूरदर्शन द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों को सुन-देखकर

भी जन-सामान्य पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता दिखाई दे रहा है। इस संबंध में मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भौतिकवादी समाज मे पले मनुष्य भावात्मक रूप में भी समाज के साथ अपने संबंधों को प्रगाढ़ बनाने की चेष्टा में प्रयत्नशील है।

भारतीय संगीत के सामाजिक महत्व के क्षेत्र में महत्वपूर्ण यह है कि जो आज शिक्षण संस्थानों में संगीत की शिक्षा-दीक्षा दी जा रही है उनमें यह देखा जाता है कि एक निश्चित पाठ्यक्रम के अन्तर्गत शास्त्र एवं प्रयोगात्मक पहलू का ज्ञान कराया जाता है। जहाँ समय का बंधन रहता है। संस्थागत अवकाश के कारण कार्य दिवस बीच-बीच में खंडित होता रहता है। कदाचित् पाठ्यक्रम एवं समय के बंधन के कारण संगीत के मूल तत्व की अनदेखी भी करनी पड़ जाती है। कभी-कभी तो विद्यार्थी मात्र डिग्री हासिल करने के उद्देश्य से आते हैं और परीक्षा उत्तीर्ण कर यह प्राप्त भी कर लेते हैं। कभी कहीं विद्यार्थी अच्छे होते हैं तो सुयोग्य अध्यापक की कमी भी महसूस की जाती है। तभी सामान्यतया यह कहा जाता है कि शिक्षण संस्थानों से कलाकार पैदा नहीं होते। कुछ हद तक यह सही भी है।

वर्तमान परिवेश में संगीत की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के संदर्भ में गुरू-शिष्य परंपरा को और सुदृढ़ बनाने तथा इसे बढ़ावा देने की आवश्यकता है ताकि प्रतिभा संपन्न विद्यार्थी को योग्य गुरू के निर्देशन में अपनी प्रतिभा निखारने का भरपूर अवसर प्राप्त हो सके

और संगीत की परंपरा की श्रृंखला भी चलती रहे।

जहाँ तक संस्थागत-शैक्षणिक संस्थानों द्वारा चलायी जा रही शिक्षण प्रणाली का प्रश्न है, उसके लिये यह व्यक्तिगत सुझाव है।

प्रथमत: तो दो तरह के पाठ्यक्रम होने चाहिये -

1. दीर्घकालिक
2. अल्पकालिक

1. दीर्घकालिक पाठ्यक्रम ऐसे प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिये होने चाहिये, जो संगीत साधना के उपरान्त कलाकार बनकर इसे आजीविका का माध्यम बनाना चाहते हों। इस प्रकार की शिक्षण व्यवस्था में समय एवं पाठ्यक्रम का बंधन न रखते हुये प्रारंभ से ही स्वर साधना, अलंकार-पलटा, तानें इत्यादि का प्रशिक्षण प्रतिदिन दिया जाना चाहिये। रागों की संख्या कम करते हुये निपुणता युक्त ज्ञान के उद्देश्य से शिक्षण पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये। श्रव्य-दृश्य माध्यम से, श्रेष्ठ कलाकारों के कैसेट सुनाकर भी शिक्षण माध्यम को सुदृढ़ करना लाभदायक होगा।

विद्यार्थी को प्रारंभ से ही तानपूरा पर प्रशिक्षण देना तथा तबला संगति तथा तबले के साथ अभ्यास कराना भी आवश्यक है। तंत्र वाद्यों के विद्यार्थियों को स्वर ज्ञान के लिये गायन का प्रारंभिक ज्ञान

देना जरूरी है। साथ ही गायन एवं वाद्यों के विद्यार्थियों को तबला वादन की शिक्षा देना भी लय-ताल की मजबूती के लिये जरूरी अंग है, जिसकी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।

इसी क्रम में यह भी अनुकरण करना लाभदायक होगा कि संगीत सम्मेलनों में श्रेष्ठ कलाकारों का प्रदर्शन सुनाकर उसके बारे में समीक्षात्मक विचार-विमर्श कराया जाये। इससे भी प्रयोगात्मक पक्ष को मजबूती प्राप्त होगी।

2. अल्पकालिक संगीत में अल्पकालिक प्रशिक्षण ऐसे विद्यार्थियों के लिये निर्धारित किये जायें जिनमें अपेक्षाकृत प्रतिभा स्तर तथा ग्राह्यता स्तर कम हो तथा जो केवल शौक या मनोरंजन के लिये संगीत सीखना चाहते हों। ऐसे विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम अलग रखते हुये पीरियड के हिसाब से कक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षण व्यवस्था से ऐसी पंक्ति के लोगों का निर्माण हो सकेगा जो संगीत के अच्छे एवं समझदार श्रोता एवं जानकार प्रशंसक सिद्ध हो सकते है।

<u>कलाकार व समाज</u>

ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में शिक्षा का लक्ष्य केवल ज्ञानवान बनाना ही नहीं होता अपितु शिक्षा ग्रहण कर समाज, जहाँ वह रहता है, के प्रति अपने

उत्तरदायित्व को निर्वहन करने योग्य बनाना भी होता है। क्योंकि जिस समाज में मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है, उससे वह बहुत कुछ ग्रहण भी करता है, इसी हेतु उसका यह दायित्व भी बनता है कि शिक्षा ग्रहण, कर उस समाज के प्रति जिम्मेदार बने, आगे आने वाली पीढ़ी को भी अपने ज्ञान से लाभान्वित करे। संगीत के क्षेत्र में तो चाहे वह कलाकार हो या अध्यापक, दोनों ही स्थितियों में जिम्मेदारी बहुत अधिक बढ़ जाती है। यदि अध्यापक हैं तो अपने संगीत शिक्षण के ज्ञान व अनुभव के माध्यम से आगे की पीढ़ी के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करें और समाज में संगीत की स्थिति को और मजबूत करें। वस्तुतः शिक्षा का यही लक्ष्य भी होता है कि प्रत्येक नागरिक अपना सामाजिक कार्य अधिकाधिक कुशलता से संपन्न कर सके। इस प्रक्रिया में कला से संबंधित कार्यों में कला के सौंदर्य का जो स्तर स्थापित होता है, उससे समाज में संस्कृति का संतुलन भी स्थापित होता है।

जबकि कलाकार अपनी कला के द्वारा समाज के सांस्कृतिक शील का निर्माण कर उसे उर्ध्वमुख बनाने का प्रयास करता है। कलाकार उस सामाजिक दायित्व को चुकाने का एक सबल साधन है और यह दायित्व, समाज की इकाई होने के नाते, निर्वहन करना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि कलाकार अपने जीवन पर्यन्त की साधना एवं ज्ञानार्जन के सहारे जो कला सृजन करता है इसके द्वारा कलाकार की अस्मिता का विस्तार और उदात्तीकरण होता है। क्योंकि कला

का संबंध ज्ञान से होता है और ज्ञान मनुष्य को जिस निष्कर्ष पर ले जाता है वहां भावना उसे शतगुणित कराता रहता है, जो कल्पना के सहारे उंची उड़ान भरता रहता है। कलाकार इस प्रकार अपने सामाजिक दायित्व के निर्वहन, अपने कला वैशिष्ट्य के प्रदर्शन के माध्यम से करता रहता है। क्योंकि कला मनुष्य के विचारात्मक और भावात्मक परिवेश को बदलकर मनुष्यता की नई प्रतिभा गढ़ देती है। कलाकार के प्रदर्शन स्तर नई पीढ़ी के लिये मार्गदर्शक भी होती है।

भारतीय संगीत प्रशिक्षण एवं प्रदर्शन

यह तो सर्वमान्य एवं सार्वभौम तथ्य है कि संगीत का उद्भव सृष्टि के आविर्भाव के साथ ही हुआ है तथा वैदिक युग से यह हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग बना हुआ काल-दर-काल सांस्कृतिक परिदृश्य को प्रभावित करता आ रहा है। भारतवर्ष में संगीत का युग वैदिक युग से माना जाता है। जहां ऋषि-मुनि-गंधर्व-किन्नर इत्यादि के संगीत ज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त कर अपनी साधना एवं अनुभव से इस नाद ब्रह्म विद्या का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं। यह तथ्य भी सुस्पष्ट है कि मन की अन्तर्भावना को व्यक्त करने के हेतु इसे कला-ललित कला की संज्ञा भी दी गई है, तथा कला को व्यवसाय एवं साधना अर्चना दोनों रूपों में अनुसरण करना प्राचीन

काल मे ही मानव सभ्यता का, समाज का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। वैदिक काल के पश्चात् पौराणिक काल, रामायण काल, महाभारत काल, तथा इसके बाद के युगों में भी संगीत की साधना-अर्चना के संदर्भ में पर्याप्त ऐतिहासिक आख्यान प्राप्त होते हैं।

भरत काल से प्राप्त उल्लेखों के आधार पर भारतीय संगीत के संबंध में अनेकानेक जानकारी प्राप्त होती है। जिनमें संगीत के मूलभूत अवयवों के बारे में, जिसमें नाद, श्रुति, स्वर, जाति, राग वाद्यों के प्रकार इत्यादि शामिल हैं, विस्तार से अलग-अलग विद्वानों ने व्याख्या की है और मध्यकाल तथा आधुनिक काल तक आते-आते भारतीय संगीत की स्थिति में कई परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते रहे हैं। संगीत प्रदर्शन कला का विषय होने के कारण इसका प्रदर्शन पक्ष भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। साथ ही ज्ञान का अंग होने के कारण इसके काल-दर-काल संवहन के लिये विधिवत् प्रशिक्षण प्रक्रिया भी आवश्यक है। यूं तो यदि हम ऐतिहासिक उल्लेखों पर गहन दृष्टिपात करते हैं तो प्रायः प्रत्येक काल में कला प्रवीणों द्वारा उत्कृष्ट प्रदर्शन का भी उल्लेख प्राप्त होता है, साथ ही विधिवत् प्रशिक्षण की व्यवस्था का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिसे गुरू-शिष्य परंपरान्तर्गत कहा जाता है।

यह भी चर्चा का विषय है कि समाज के अभिजात्य वर्ग में तो कहीं-कहीं इसे फैशन का एक रूप भी माना जाता है, जबकि साधनारत

कलाकार इसे ज्ञान पिपासा के क्रम में इसे पूजा-साधना का विषय मानते रहे हैं। विगत आठ-नौ दशकों में वैसे इसकी स्थिति में काफी बदलाव भी दृष्टिगोचर होता है। संगीत की सामाजिक स्थिति में एक नया बदलाव भी आया है। मध्यकाल-मुग़लकाल में संगीत की जो प्रतिष्ठापूर्ण स्थिति थी, धीरे-धीरे वह 17 वीं-18 वीं शताब्दी में धूमिल होने लगी थी। आधुनिक काल के प्रारंभ में विष्णुद्वय स्व. पं. विष्णु नारायण भातखंडे एवं स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर जी के अथक प्रयासों से संगीत की सामाजिक स्थिति में काफी सुधार आया है। संगीत एवं संगीतज्ञों को समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होने लगा है। लोगों के नज़रिये में भी परिवर्तन हुआ है, संगीत को समाज में प्रतिष्ठित अभिजात्य वर्ग में श्रद्धाभाव से देखा।

संगीत में जहां तक शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही गुरूकुल पद्धति के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा की परंपरा प्रचलित थी। इसमें गुरू के सम्मुख शिष्य आमने-सामने बैठकर गुरू-मुख से उच्चारित विद्या को उसी रूप में ग्रहण करता था। भारतीय संगीत के विकास में गुरूकुल पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिसे गुरू-शिष्य परंपरा के नाम से भी जानते हैं। आगे यही परंपरा-घराना-संप्रदाय के रूप में सामने आई तथा मुख्य रूप से घरानों के अन्तर्गत संगीत को एक प्रकार की सुरक्षा भी मिली तथा मध्यकाल का संगीत इसी पद्धति के द्वारा आधुनिक काल तक सुरक्षित प्राप्त हुआ। बाद में बीसवीं

शताब्दी के प्रारंभ में संगीत की संस्थागत शिक्षण का बीजारोपण हुआ तथा घराना पद्धति के समानान्तर संस्थागत शिक्षण ने संगीत के विकास में योगदान देना प्रारंभ कर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तो संस्थागत शिक्षण का तेजी से विकास हुआ। ग्वालियर एवं लाहौर में स्थापित संगीत महाविद्यालयों, लखनऊ में स्थापित भातखंडे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय पूर्व नाम मैरिस म्युजिक कॉलेज , इलाहाबाद में स्थापित प्रयाग संगीत समिति इत्यादि प्रमुख संस्थायें हैं, जहां संगीत की शिक्षा-दीक्षा का प्रारंभ हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में, संभवत: उत्तर भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम, भी संगीत की शिक्षा-दीक्षा का प्रारंभ हुआ। देश में कई, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय तथा संस्थानों के माध्यम से संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली के विकास में योगदान मिलता रहा। बाद में कई विश्वविद्यालयों में संगीत एवं प्रदर्शन कला के संकाय भी स्थापित हुये। इतना ही नहीं देश में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के नाम से खैरागढ़ (म. प्र.) में संगीत का अलग विश्वविद्यालय भी स्थापित किया गया है।

संगीत का मूल प्रयोजन तो आनन्दानुभूति है किन्तु शिक्षा-दीक्षा के अन्तर्गत प्रशिक्षण हेतु भी इस विषय की विधिवत् शिक्षण भी आवश्यक है। जिस हेतु गुरू-शिष्य परंपरागत शिक्षण तथा संस्थागत शिक्षण दोनों आवश्यक है। क्योंकि भारतीय संगीत, जिसे केवल

मनोरंजन का साधन ही नहीं अपितु ईश्वर प्राप्ति एवं साधना का स्त्रोत भी माना जाता है, एक विधिवत प्रशिक्षण का विषय है। वैसे भी संगीत से मानसिक व बौद्धिक विचारों का विकास तो होता ही है, साथ ही यह एक ऐसा माध्यम है, जिससे सारे देश को क्या, अखिल विश्व को एक सूत्र में बांधा जा सकता है। क्योंकि संगीत ही ऐसा विषय है जो बाल्यकाल से ही शिक्षण ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों के सांस्कृतिक विकास में योगदान करती है। यही स्थिति गुरूकुल तथा घराना पद्धति की शिक्षण व्यवस्था में भी विद्यमान रहती है, जहां बाल्यकाल से ही शिक्षार्थी गुरू के संरक्षण में रहकर संगीत की शिक्षा ग्रहण करता है और वर्षों-वर्षों साधना एवं प्रशिक्षण के बाद अर्जित सांगीतिक ज्ञान उसे श्रेष्ठ कलाकार बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

भारतीय संगीत के शिक्षण-प्रशिक्षण के संदर्भ में मुख्य रूप से गुरू-शिष्य परंपरा एवं संस्थागत शिक्षण दो व्यवस्था सामने आते हैं। आधुनिक परिवेश में जहां तक अध्यापकों की बात आती है, उसमें भी अध्यापकों के दो वर्ग सामने दिखाई पड़ते हैं - एक घरानेदार परंपरा से शिक्षा प्राप्त अध्यापक और दूसरे संस्थागत डिग्रीधारी अध्यापक। संगीत शिक्षा की स्थिति चाहे विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय स्तर पर देखें तो दोनों ही परिस्थितियों में हमें भिन्न-भिन्न माहौल तथा भिन्न प्रभाव दिखाई देते हैं। एक तरफ तो गुरू शिष्य परंपरा की कुछ अपनी विशिष्टतायें है जैसे - पाठ्यक्रम का बंधन नहीं रहता, वहीं संस्थागत शिक्षण में समय तथा पाठ्यक्रम की सीमा रहती है।

अध्यापकों की धाराओं के संदर्भ में भी संगीत की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था प्रभावित होती है। क्योंकि गुरू-शिष्य परंपरा के अनुयायी अध्यापक एवं डिग्रीधारी अध्यापक के शिक्षण का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होता है।

गुरू शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरू विषय की गहनता में जाकर मूलभूत अवयवों की अच्छी तैयारी, अभ्यास पर विशेष जोर देते हैं। समय की सीमा नहीं रखी जाती है। अलंकार स्वर लगाव बंदिश तानों के प्रकार इत्यादि का विशेष अभ्यास किया-कराया जाता है, जबकि संस्थागत शिक्षण में प्रथमत: तो सत्रानुसार समय की सीमा बंधी रहती है तथा पाठ्यक्रम का एक निश्चित स्वरूप अध्यापक एवं छात्र के सामने रहता है। जिसका अनुसरण परीक्षा व्यवस्था को देखते हुये करना आवश्यक हो जाता है। इन सारी व्यवस्थाओं के मध्य यह भी देखना आवश्यक होता है कि विद्यार्थी में प्रतिभा कितनी है। यह तो कटु सत्य है कि प्रतिभा तो जन्मजात होती है किन्तु यदि किसी विद्यार्थी में थोड़ी भी प्रतिभा है तो परिस्थिति के अनुसार उसका विकास किया जा सकता है।

जहाँ घराना पद्धति या गुरू-शिष्य पद्धति में केवल गुरू तथा शिष्य रहते हैं तथा कलाकार बनाना मुख्य उद्देश्य होता है वहीं संस्थागत शिक्षण पद्धति में मुख्य रूप से चार अंग होते हैं -

1. छात्र
2. शिक्षक
3. शिक्षण व्यवस्था एवं
4. मूल्यांकन।

संस्थागत शिक्षण में इन चारों अंगों में आवश्यकतानुसार समन्वय करते हुये शिक्षण व्यवस्था चलती रहती है। तथा अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुरूप विद्यार्थी विद्या ग्रहण करते रहते हैं, परीक्षा उत्तीर्ण करते रहते हैं तथा डिग्री प्राप्त करते हैं। जहाँ मूल्यांकन या परीक्षण का कार्य सबसे अंतिम में होता है, जबकि घरानेदार परंपरा में यह सबसे पहले देखने की बात होती है कि छात्र में संगीत सीखने और ग्रहण करने की कितनी क्षमता है, कितनी प्रतिभा है। क्योंकि संगीत एक अलौकिक कला है तथा मात्र किताबी ज्ञान से इसे सीखना संभव नहीं है। घरानेदार या गुरू-शिष्य परंपरा में तालीम या रियाज़ का भी बहुत अधिक महत्व रहता है जो गुरू-शिष्य के प्रति शुद्ध पवित्र एवं माधुर्यपूर्ण संबंधों पर निर्भर करता है। गुरू का शिष्य के प्रति हार्दिक सहानुभूति तथा शिष्य का गुरू के प्रति श्रद्धाभाव तथा सेवाभाव दोनों को एक-दूसरे के साथ इस प्रकार से संबंध में बांध लेते है कि शिक्षण का कार्य अनवरत चलता रहता है।

वस्तुत: संगीत शिक्षण के दो मुख्य उद्देश्य होते है - प्रथमत: कलाकार का निर्माण करना तथा दूसरा योग्य अध्यापक बनाना।

इससे अलग भी एक प्रयोजन होता है वह है, संगीत का एक सुधी श्रोता बनाना, प्रशंसक बनाना।

गुरू-शिष्य परंपरा के अन्तर्गत तो विशिष्ट प्रतिभा संपन्न विद्यार्थी को ही विशेष लाभ मिल सकता है, जिसमें प्रतिभा, लगन, परिश्रम की उत्कंठा, श्रद्धा-सेवाभाव, धैर्य इत्यादि चीजें हों और पूरे समर्पण भाव से योग्य गुरू के निर्देशन में संगीत की शिक्षा ग्रहण करे, अभ्यास करे। जबकि संस्थागत शिक्षण में संगीत की शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने के कई स्तर हैं, विद्यालय स्तर, महाविद्यालय स्तर, तथा अंत में विश्वविद्यालय स्तर पर जहां विद्यार्थी उम्र के 16 से 18 वर्ष के बाद ही पहुंच पाते हैं। वैसे संगीत के दोनों मुख्य उद्देश्य पर हम नजर डालें तो निश्चित रूप से दोनों के लिये ही आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही संगीत सीखने का क्रम प्रारंभ हो। प्रख्यात संगीत मर्मज्ञ डॉ. शंकर लाल मिश्र के अनुसार - "मनुष्य के मानसिक विकास के साथ ही संगीत के ज्ञान का विकास भी होना चाहिये।" वस्तुत: घरानेदार पद्धति में तो ऐसा देखा जाता है कि बाल्यकाल से ही बच्चों को संगीत की शिक्षा देना शुरू हो जाता है, पूरे घर के वातावरण में ही उसे संगीत सीखने का मौका मिलता है। अत: यह कहना सत्य है कि यदि छात्र में प्रतिभा हो, सांगीतिक संस्कार हो, लगन हो तथा अच्छे अध्यापक भी मिल जायें ताकि उचित रीति से संगीत की शिक्षा-दीक्षा दी जाये तो मनोवांछित फल प्राप्त हो सकते हैं। अच्छी पद्धति वही है, जो अपने लक्ष्यों को पूरा कर सकने में समर्थ होता है।

परन्तु इन दोनों ही विधियों में यह स्पष्ट तथ्य है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपनाया जाना भी आवश्यक है। किस विधार्थी में ग्रहण करने की कितनी क्षमता है तथा उस विधार्थी विशेष की अपनी सांगीतिक विशिष्टतायें कितनी और किस स्तर की हैं, यह समझना भी परमावश्यक है। ताकि उसी के अनुरूप यथोचित संगीत की शिक्षा-दीक्षा दी जा सके। ऐसा न हो कि उसके ग्राह्यता से कहीं अधिक या कम शिक्षण हो, जो उसकी पहुंच के परे हो और साधना-अभ्यास के समय का उचित लाभ न उठाया जा सके।

संगीत जैसे विषय के लिये कला-कलाकार, कला-अध्यापक तथा कला-श्रोता तीनों अंगों की समन्वित स्थिति मिलती है और होनी भी आवश्यक है। संगीत सीखने वाला प्रत्येक विधार्थी कलाकार बनना चाहता है। यह मनुष्य का स्वभाव है जबकि कलाकार बनने हेतु क्या कुछ करना पड़ता है, इसकी चर्चा हो चुकी है, सर्वविदित भी है, सभी जानते हैं। कभी-कभी इस विषय पर भी विवाद उठ जाता है कि कलाकार पैदा होते हैं, जन्मजात होते हैं, या कलाकार बनाये जाते हैं। यह सब निर्भर करता है प्रतिभा, वातावरण, शिक्षण, लगन, परिश्रम इत्यादि मूल तत्वों पर।

मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष में संगीत विषय हेतु कलाकार, अध्यापक तथा श्रोता तीनों की मानसिकतायें भी अलग-अलग होती है। विगत दस वर्षों में शोध कार्य के दौरान तथा विभिन्न कार्यक्रमों में श्रेष्ठ

कलाकारों से बातचीत के दौरान यह तथ्य उभर कर सामने आया है कि कलाकार की मानसिकता में मंच पर पहुंचकर प्रत्येक कार्यक्रम एक परीक्षा के रूप में होती है। पता नहीं कार्यक्रम कितना सफल होगा, श्रोतागणों की कितनी सराहना मिलेगी। वैसे एक कार्यक्रम की सफलता या विफलता के लिये कार्यक्रम के पूर्व का: संयोजन-परिवेश, सहयोगी कलाकारों के साथ का समन्वय, मंच का सौंदर्य बोध इत्यादि कई तत्व हैं जो महत्वपूर्ण भी हैं तथा कार्यक्रम को प्रभावित भी करते हैं। यह भी कहावत तर्कयुक्त है "राग रसोई पागड़ी, कभी-कभी बन जाये"। प्राय: सभी स्थापित कलाकारों का यह भी विचार उभर कर सामने आया है कि संगीत जैसे विषय में एक कलाकार का होना तथा एक अध्यापक का होना - दो अलग-अलग पहलू हैं, दोनों की मानसिकता, दोनों की सोच-दिशा तथा कार्य करने की पद्धति भिन्न-भिन्न है। जो व्यक्ति योग्य एवं विद्वान अध्यापक होगा वह एक सफल कलाकार नहीं हो सकता और जो व्यक्ति एक सफल कलाकार होगा वह योग्य अध्यापक नहीं हो सकता। कुछ-दो-एक व्यक्ति इसके अपवाद स्वरूप भी हो सकते हैं। तथापि यह सर्वमान्य स्थिति है।

क्योंकि कलाकार अपनी साधना को, कला वैशिष्ट्य को, जन-मन-रंजन हेतु श्रोताओं के समूह के लिये प्रस्तुत करते हैं, जिसे आनन्द की अनुभूति होती है तथा रसानन्द की प्राप्ति से वाह ... मिलती है। जबकि अध्यापक को विद्यार्थियों के एक समूह में उनकी प्रतिभा एवं ग्राह्यता के अनुरूप शिक्षा का अंश प्रदान करना पड़ता है, जो उनके मन-

मस्तिष्क में स्थापित हो। अध्यापक को इस क्रम में समूह या कक्षा में अलग-अलग प्रतिभा-ग्राह्यता दर के विद्यार्थियों से निपटना पड़ता है, तथा अलग-अलग मानसिकता के अनुरूप प्रशिक्षण प्रदान करते हुये, उन्हें उस स्थिति से ऊपर लाना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि उनके मन-मस्तिष्क में अपनी कलात्मक गुण, सोच, संगीत तत्व बिठाने का प्रयत्न किया जाता है और संभवत: यह कठिन कार्य है।

अपने पूर्व शोध कार्य के दौरान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से संगीत शिक्षण की विभिन्न स्थितियों के अध्ययन के क्रम में यह तथ्य उभर कर आया कि संस्थागत शिक्षण में वर्ग शिक्षण में ऐसी भी स्थिति आती है जब यदि अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभा संपन्न विद्यार्थियों की मानसिकता के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाये तो कम प्रतिभा वाले विद्यार्थी की मानसिकता के अनुसार ग्राह्यता अच्छी नहीं हो पाती और यदि कम प्रतिभा वाले विद्यार्थी की मानसिकता के अनुरूप शिक्षण दिया जाये तो अच्छी प्रतिभा वाले विद्यार्थी उचित शिक्षण से वंचित रह जाते हैं। अत: इस संबंध में मेरा विचार यह था कि प्रतिभा एवं ग्राह्यता के आधार पर यदि प्रत्येक कक्षा में दो वर्ग बना दिये जाये - §1§ जिनमें प्रतिभा तथा ग्राह्यता 50 प्रतिशत से ऊपर हो तथा §2§ जिनमें प्रतिभा-ग्राह्यता 50 प्रतिशत से कम हो। और तब इसके अनुसार संगीत शिक्षण संबंधी पाठ्यक्रम, समय, सामग्री तथा शिक्षण स्तर का चयन कर विधिवत संगीत की शिक्षा-दीक्षा दी जाये। संगीत की शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त कलाकार तथा अध्यापक से परे एक वर्ग और भी होता है सुधी श्रोता की।

संगीत जैसे रसानन्द सदृश कला के लिये सुधी सरस श्रोता का होना भी परमावश्यक है। विशेषकर भारतीय शास्त्रीय संगीत के लिये। वैसे तो कहा जाता है कि "संगीत ही एक मात्र विषय है, जिसका व्याकरण न जानने वाला व्यक्ति भी इससे आनन्दित होता है।" और यदि व्याकरण, मूल तत्व की जानकारी हो, तो और भी अच्छी बात है। क्योंकि संगीत के प्रदर्शन में कलाकार मंच से अपनी अन्तर्भावनाओं को राग, स्वर, लय इत्यादि के माध्यम से श्रोताओं तक संचरित करने का प्रयास करते हैं और श्रोताओं में सजगता है तो वह उसे ग्रहण करते हैं तथा आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया चलती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जन-जीवन से जुड़ा, संस्कृति का अभिन्न अंग, भारतीय संगीत न केवल सामाजिक सरसता को बढ़ाते हैं अपितु उस परमतत्व ब्रह्म का दर्शन भी कराते हैं। हमारे जन-जीवन से इनका जुड़ाव कला-कलाकार अध्यापक व श्रोता के रूप में काफी महत्वपूर्ण है, जो हमारे सामाजिक परिवेश तथा सांस्कृतिक परंपरा में श्रीवृद्धि भी करते हैं और इन्हें सुदृढ़ भी बनाते हैं।

— · —

उपसंहार

एवं

संदर्भ ग्रन्थ सूची

उपसंहार

अखिल विश्व में सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही समस्त गतिविधि में व्याप्त संगीत की महत्ता स्वयं सिद्ध है। विश्व के प्राय: प्रत्येक देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का अभिन्न अंग तथा सांस्कृतिक व ऐतिहासिक विकास का साक्षी होने के कारण इसे संस्कृति एवं समाज के साथ आरंभ से ही आबद्ध माना जाता है। हमारे देश में तो संगीत का आरंभ न केवल सृष्टि के समय से माना जाता है अपितु संगीत का संबंध भी आरंभ से ही देवी-देवता से माना जाता है। हमारे धार्मिक उपख्यानों में उल्लिखित मान्यताओं के अनुसार हमारे विभिन्न देवी-देवता भिन्न-भिन्न स्वर ताल वाद्य के साथ निरूपित हुये हैं, अराध्य देव माने जाते हैं तथा ऋषि, मुनि गंधर्व, किन्नर इत्यादि के माध्यम से ब्रह्मलोक से पृथ्वी लोक पर संगीत के प्रचार-प्रसार हेतु अपनी अलौकिक शक्ति के प्रयोग के लिये सदैव पूज्य भी माने जाते रहे हैं।

हमारे देश का सांस्कृतिक एवं सामाजिक इतिहास इस बात का साक्षी है। जिसके अन्तर्गत चाहे वैदिक काल हो या पौराणिक

काल, रामायण काल हो या महाभारत काल या फिर ऐतिहासिक विकास का कोई भी दौर, भारतवर्ष में संगीत का विकास एवं प्रचार-प्रसार हमेशा ही अपने उन्नत अवस्था में रही है, साथ ही समाज के अभिन्न अंग के रूप में यह हमेशा स्वीकार्य भी रही है। ईसा काल के बाद प्राचीन काल के विभिन्न हिन्दू साम्राज्य, भरत काल तथा मध्यकाल में देश में मुग़लकाल के विभिन्न आयाम में भी संगीत की अपनी अविरल धारा सतत् प्रवाहमान रही है। आधुनिक काल का परिवेश तो अपेक्षाकृत और भी विकासोन्मुख युग का परिचायक है।

हमारे देश की सांस्कृतिक परंपरा में एक और सुदृढ़ बात रही है, वह है संगीत का धर्म से आबद्ध होना। धार्मिक यज्ञ, हवन, पूजन इत्यादि में स्वर-लय का समावेश अपने आप में एक तात्विक माहौल का निर्माण करता रहा है। हो भी क्यों नहीं, हमारे देश में संगीत की अराधना तो नाद-ब्रह्म के रूप में प्रारंभ से की जाती रही है। इसे ईश्वर का दूसरा रूप भी कहा जाता है। इसीलिए इसे ब्रह्म स्वरूप मानते हुये नाद-ब्रह्म कहा जाता है। क्योंकि "ओऽम्" संगीत की उत्पत्ति के लिये भी एक सशक्त आधार के रूप में सर्वमान्य है।

यह तथ्य तो सर्वविदित है कि धर्म, संस्कृति और समाज से

जुड़ा होने के कारण संगीत का संबंध मानव से भी प्रारंभ से ही है। यह समाज की परंपरा रही है कि प्राय: प्रत्येक सामाजिक क्रिया-कलाप में संगीत का होना आवश्यक है। समाज की हर गतिविधि चाहे वह सुखद हो या दु:खद, संगीत का जुड़ाव उसके लिये एक अभिन्न अंग के रूप में हमेशा दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का ऐसा कथन भी है कि किसी देश के सांस्कृतिक विकास का यदि अवलोकन करना हो तो सबसे पहले वहां के संगीत का गहन अवलोकन करना आवश्यक है। यही स्थिति विश्व के प्राय: सभी देशों के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के साथ है। समाज के प्राय: प्रत्येक वर्ग, चाहे वह शिक्षित हो या नहीं, इतना तक कि भाषाई संस्कृति से दूर-दूर तक संबंध न रखने वाले समाज में भी अपने मनोभावों एवं सुख-दु:ख के भावों के प्रकटीकरण के समय या सामाजिक रीति-रिवाजों के समय संगीत को हमेशा साथ रखा करते हैं।

वर्षों-वर्षों के सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास के गहन अनुशीलन के तारतम्य में यह बात प्रथमत: उभर कर आती है कि संगीत मानव हृदय की अंतर्भावनाओं को सौंदर्य बोध एवं माधुर्यपूर्ण ढंग से व्यक्त करने का सशक्त साधन है। चूंकि यह हृदय-मन से संबंधित है अत: मन के साथ-साथ मस्तिष्क से भी इसका गहरा संबंध है। चूंकि यह साधना का विषय है जहां हृदय एवं मन का केन्द्रित होना तथा पूरे लगन के साथ सान्द्रित होना आवश्यक है। इसी आधार पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में संगीत के विभिन्न पहलुओं के

सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयाम को मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष में गहनता से अध्ययन किया गया है। क्योंकि संगीत के क्षेत्र में चाहे साधना हो या प्रदर्शन या शिक्षण, प्रत्येक अवस्था में एक निश्चित परिवेश के कारण मन-मस्तिष्क का केन्द्रित जुड़ाव आवश्यक हो जाता है। क्योंकि मनुष्य समाज में ही रहता है तथा प्रायः प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक कार्य में सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ता ही पड़ता है। यह मानव मन-मस्तिष्क के परिपेक्ष में अपनी व्यक्तिगत स्थिति बोध की भी बात है कि मन-मस्तिष्क की कितनी भागीदारी संगीत के उस पहलु में उस व्यक्ति द्वारा ली जा रही है। इस अध्ययन के हेतु मन से जुड़े विषय "मनोविज्ञान" का आधार लिया गया है। क्योंकि मन से संबंधित होने के कारण मनोविज्ञान विषय का महत्व स्वतः बढ़ जाता है।

अतः प्रस्तुत कार्य संगीत के विविध अंगों के संदर्भ में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन हेतु मनोवैज्ञानिक अध्ययन के प्रयास स्वरूप कार्य है। संगीत का समाज एवं संस्कृति से जुड़ाव होने के कारण यह मानव जीवन के साहचर्य के रूप में जाना जाता है, जिस हेतु संगीत की साधना, शिक्षण एवं प्रदर्शन, के साथ-साथ कुछ अन्य पहलु भी है, जो हमें मनोविज्ञान के साथ जोड़ती है। हमारे लोक जीवन में संगीत की जड़े काफी गहरी हैं, मजबूत हैं। स्वर-लय-ताल के विशेष प्रयोग से विभिन्न लोक जीवन शैली का बोध होने लगता है। जो सामाजिक

सांस्कृतिक जीवन की आधुनिकता के लिये जिम्मेवार भी कही जा सकती है।

संगीत के विभिन्न पहलु को ही यदि देखा जाये कि प्रथमत: साधना किस समय किया जाये, क्या किया जाये तथा किस रूप में किया जाये तो यह गुनीजनों एवं गुरूजनों के द्वारा समय-समय पर सही दिशा के रूप में सामने आती रहती है। क्योंकि शिक्षण के क्रम में प्राय: यह देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी ग्राह्यता क्षमता एवं बुद्धिमत्ता भिन्न होती है और यह योग्य गुरू के परख की बात होती है कि इन परिपेक्षों में साधना हेतु सही दिशा एवं सामग्री का आकलन करते हुये संगीत साधना का मार्ग प्रशस्त करते रहें। संगीत संबंधी विभिन्न अवयवों का सही रूप में अभ्यास व साधना से उपलब्धि प्राप्त करने में काफी कुछ सहजता रहती है। यही स्थिति शिक्षण-प्रशिक्षण-प्रदर्शन सभी के लिये कही जाती है। संगीत को प्रारंभ से ही कला के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। प्राचीन काल से ही कला के दो रूप विद्यमान रहे हैं -

(क) ललित कला, एवं
(ख) उपयोगी कला।

विद्वानों का ऐसा विचार है कि ललित कलाओं की भी उपयोगिता रहती है तथा उपयोगी कलायें भी लालित्य से पूर्ण रहती

है। अतएव कलाओं की आपसी तात्विक साम्यता भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। कलाओं का उदगम स्थल मन तथा हृदय होता है। और मन:चेतना का विज्ञान होने के कारण मनोविज्ञान का भी इस प्रकार के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान बन जाता है।

वैसे देखा जाये तो संगीत की साधना, अभ्यास, प्रदर्शन व प्रशिक्षण में कई ऐसे तत्व हैं, जो मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर होने के साथ-साथ संगीत के विभिन्न पहलु में या तो स्वत: प्रयुक्त होते रहते हैं या फिर यदि उनका आधार एवं सहयोग लिया जाये तो कला का स्तर एवं प्रावीण्यता का अनुपात बेहतर स्थिति में प्राप्त हो सकता है। क्योंकि आधुनिक परिवेश में संगीत के संदर्भ में मोक्ष मार्ग के सुगम साधन के अतिरिक्त संगीत के लिये अर्थ प्राप्ति मनोरंजन, श्रृंगारिकता इत्यादि प्रयोजन भी साथ जुड़ गये हैं। इतना ही नहीं आधुनिक काल के प्रारंभ से ही शिक्षा-दीक्षा के मूल स्वरूप में भी काफी परिवर्तन हमें दिखाई पड़ते हैं। परंपरा, संप्रदाय, घराना, गुरू-शिष्य प्रणाली से चलकर आज संगीत की शिक्षा-दीक्षा, शैक्षणिक संस्थानों के माध्यम से भी दी जा रही है, जहां उनकी अपनी कुछ विशेषतायें भी हैं और कुछ सीमायें भी। इस प्रकार की शैक्षणिक शिक्षण व्यवस्था ने संगीत के प्रचार-प्रसार में अद्वितीय एवं अभूतपूर्व योगदान तो दिया है किन्तु संभवत: संगीत के अपने वास्तविक उद्देश्य से इस व्यवस्था में कुछ भटकाव भी नजर आता है।

क्योंकि साधना के इस विषय को शैक्षणिक शिक्षण व्यवस्था में कई सीमाओं एवं बंधन के सापेक्ष गतिमान रहना पड़ता है। और यह अनुभव किया गया है कि संगीत की शिक्षा-दीक्षा के अन्तर्गत शिक्षा मनोविज्ञान के आधार पर बुद्धि जाँच, मानसिक योग्यता, प्रतिभा व्यक्तित्व इत्यादि की जाँच परख का होना परमावश्यक है। क्योंकि कला और मनोविज्ञान दोनों का मस्तिष्क एवं आत्मा से सीधा संबंध होने के कारण मनुष्य के मस्तिष्कीय ज्ञान स्मृति-विस्मृति के आधार पर समृद्धशाली कहा जाता है। मन मस्तिष्क से सबसे प्रथमतः जो अवयव जुड़ा है वह है कल्पना। संगीत में कल्पनाशीलता कला एवं कलाकार की परिपक्वता एवं मानसिक योग्यता का परिचायक माना जाता है। कल्पना शक्ति अच्छी हो तो कला अपने उत्कृष्टतम स्वरूप में व्यक्त होने लगती है और परंपरागत शैली अपनी उपस्थिति का विभिन्न आयामों द्वारा बोध भी कराने लगती है।

इस व्यवस्था में साधना के क्रम में गुरू और शिष्य का संबंध अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। शिष्य की मानसिक ग्राह्यता का आकलन करके गुरू विषय के प्रति अपनी समझदारी और कल्पनाशीलता शिष्य के मन-मस्तिष्क में स्थापित कराने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास में कल्पनाशीलता अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। गुरू-शिष्य परंपरा में संगीत शिक्षण के क्रम में स्वर साधना, अलंकार अभ्यास, राग गायन शैली, राग विस्तार, तानों के विविध

प्रकार का अभ्यास आदि कई अवयवों में गहनता से ध्यान दिया जाता है। प्रातः से लेकर देर रात तक संगीत के विभिन्न अवयवों के रियाज़ में इस परंपरा में समय व्यतीत होता है। ऐसा भी होता है कि गुरू सामने हों या न हों, शिष्य के रेयाज में, प्रगति में उनका ध्यान बराबर लगा रहता है। संगीत में कला प्रावीण्य की दृष्टि से यही परंपरा सर्वमान्य मानी जाती है, तथापि शैक्षणिक शिक्षण व्यवस्था रूपी क्रांतिकारी परिवर्तन ने समाज में संगीत की स्थिति एवं व्यवस्था को सशक्त किया है।

समाज में आज संगीत की स्थिति में, विगत लगभग पांच दशकों से या यूं कहें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उत्तरोत्तर सुधार दृष्टिगोचर हुआ है। समाज के प्रत्येक वर्ग में संगीत साधना, संगीत शिक्षा-दीक्षा को लोगों ने अपनाया है। इतना ही नहीं संगीत के प्रति आम नज़रिया में भी काफी कुछ परिवर्तन हुआ है। अपनी प्रतिभा एवं अपने संसाधनों के अनुसार संगीत की शिक्षा ग्रहण करने का सिलसिला भी जोरों से आरंभ हुआ। स्कूल, कॉलेज, विश्व-विद्यालयों एवं संगीत शिक्षण के स्वतंत्र संस्थानों के माध्यम से संगीत की शिक्षा-दीक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार की अविरल धारा प्रवाहित हुई, उसने संगीत की सामाजिक स्थिति को बेहतर ही बनाया है। हमारी लोक संस्कृति एवं लोक जीवन के अंग के रूप में तो वर्षों से इसकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है, जहां हम पाते हैं कि समाज की परिवार की प्रायः प्रत्येक गतिविधि के साथ संगीत का जुड़ाव हमेशा से ही

दृष्टिगोचर हुआ है। सामाजिक संस्कारगत प्राय: प्रत्येक क्रिया में संगीत की उपस्थिति किसी-न-किसी रूप में हमेशा से क्रिया-व्यवहार को कलात्मकता प्रदान करती रही है।

जबकि विधिवत शिक्षण प्रशिक्षण के लिये मनोवैज्ञानिक सिद्धांत की उपादेयता नि:संदेह स्तरोन्नयन के हेतु सार्थकता की ओर संकेत करती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के जुड़ाव से संगीत में रसोत्पत्ति के भी स्तर में उन्नयन स्वत: दिखलाई देती है।

भारतीय कला एवं संगीत में भी दो मुख्यधारा दृष्टिगोचर है - एक कलाकार के रूप में तथा दूसरा एक शिक्षक के रूप में। कला प्रयोजन एवं साधना-शिक्षण व्यवस्था, दोनों ही में अलग-अलग ढंग से क्रियाशील रहती है, तथापि समाज एवं संस्कृति के प्रति दोनों के उत्तरदायित्व अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, दोनों धारा अपने-अपने ढंग से संगीत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों के वहन में क्रियाशील रहते हैं। किसी एक व्यक्ति में कलाकार एवं अध्यापक दोनों गुणों का समावेश मुश्किल सा होता है, तथापि कुछेक उदाहरण हैं, जहां यह मणिकांचन संयोग देखने को मिलता है। तात्पर्य यह है कि कलाकार हों या अध्यापक शिष्य हो या श्रोता, प्रत्येक स्थिति में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की आवश्यकता स्वयं सिद्धा सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के माध्यम से यह विश्लेषण करने का अकिंचन प्रयास किया गया है कि वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक संगीत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व के अनुसार विभिन्न काल में संगीत की प्रगतिशाली अभिव्यक्ति के अध्ययन को सामने रखते हुये संगीत के प्रदर्शन पक्ष के सामाजिक महत्व का आकलन देखा जाये। आधुनिक काल में संगीत के प्रदर्शन पक्ष हेतु कलाकार के दायित्व एवं शिक्षा-दीक्षा के विभिन्न अध्यापक कार्य के हेतु मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रयोग से संगीत के विविध पहलू को और भी सशक्त आधार मिल सकेगा और संगीत के बेहतर स्तर की प्राप्ति में इनकी उपस्थिति एवं उपादेयता से नये आयाम की संभावना बढ़ने लगती है। जिससे भारतीय धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं समाज का अभिन्न अंग हमारा संगीत उत्तरोत्तर विकास मार्ग पर गतिशील होता रहे।

—— · ——

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संस्कृत

अद्वैत तत्व शुद्धि - एन. एस. ए. अनन्तकृष्ण शास्त्री, भारतीय विजयम् प्रेस, मद्रास, 1958.

बृहद्देशी - मतंग मुनि प्रणीत, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1976.

संगीत रत्नाकर - पं. शारंगदेव, सं. पं. एस. सुब्रह्मण्य शास्त्री, अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, 1951.

संगीत दर्पण, पं. - दामोदर, संगीत कार्यालय, हाथरस.

सामवेद - सं. श्री राम शर्मा, संस्कृत संस्थान, बरेली.

हिन्दी

अथातो सौंदर्य जिज्ञासा - डॉ. रमेश कुंतल मेघ, दि मैक मिलन कं., नई दिल्ली, 1977.

अभिनव गीतांजलि - प्रो. रामाश्रय झा "रामरंग", संगीत सदन
प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968.

कला समीक्षा - डॉ. गिरजि किशोर "अशोक", देवऋषि प्रकाशन.

कला विवेचन - डॉ. कुमार विमल, भारती भवन, पटना, 1968.

कला - डॉ. हंस कुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन, गया.

कालिदास साहित्य एवं संगीत कला - डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ, इस्टर्न
बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988.

कालिदास साहित्य एवं वादन कला - डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ, इस्टर्न
बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1986.

ध्वनि और संगीत - प्रो. ललित किशोर सिंह, भारतीय ज्ञान पीठ
प्रकाशन, नई दिल्ली.

निबन्ध संगीत - सं. लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय हाथरस.

भारतीय संगीत वाद्य - डॉ. लालमणि मिश्र, भारतीय ज्ञान पीठ
प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973.

भरत का संगीत सिद्धान्त - आचार्य बृहस्पति, सूचना विभाग, उ0 प्र0,
1959.

भरत भाष्यम् - भाग -1, टीकाकार चैतन्य देसाई.

भारतीय संगीत का इतिहास - प्रो. उमेश जोशी, मानसरोवर प्रकाशन, फिरोज़ाबाद.

भारतीय संगीत का इतिहास - डॉ. श. श्री. परांजपे, चौखंभा प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2026.

भारतीय संगीत और मनोविज्ञान - डॉ. वसुधा कुलकर्णी, जोधपुर.

भारतीय संगीत का इतिहास - ठाकुर जयदेव सिंह, सं. रि. एकैडमी, कलकत्ता.

भारतीय कला के पद चिह्न - डॉ. जगदीश गुप्त, प्रयाग.

भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका - डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 2031.

भारतीय संगीत शास्त्र - श्री तु. रा. देवांगन, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1997.

भारतीय संगीत एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण - स्वयं शोध प्रबन्ध, 1990.

मनोविज्ञान की रूपरेखा - प्रो. नित्यानन्द पटेल.

रस मीमांसा - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, वाराणसी.

संगीत चिंतामणि - आचार्य बृहस्पति, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1976.

संगीत शास्त्र - के. वासुदेव शास्त्री, सूचना विभाग, उ. प्र. 1958.

सौंदर्य शास्त्र के तत्व - डॉ. कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981.

संगीत के घरानों की चर्चा - डॉ. सुशील कुमार चौबे, उ. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, 1977.

सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा - डॉ. रामनाथ शर्मा.

[illegible] है सौंदर्य प्राश्निक - प्रो. र. कुं. मेघ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1980.

संगीत कोश - डॉ. श. श्री. परांजपे, म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1980.

संगीत विशारद - श्री बसंत, संगीत कार्यालय, हाथरस.

शिक्षा मनोविज्ञान - डॉ. एस. एस. माथुर, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1981.

शिव सूत्र विमर्शिनी - क्षेमराज, शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, भाग-एक, डॉ. गोविन्द.

शिक्षा मनोविज्ञान - के. डब्ल्यू, दि रोनाल्ड प्रे., न्यूयार्क.

संगीत भाष्य - श्रीपद बन्दोपाध्याय, बी. आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली, 1985.

हमारा आधुनिक संगीत - डॉ. सुशील कुमार चौबे, उ. प्र. संगीत ग्रंथ अकादमी, लखनऊ.

पत्र पत्रिकायें व लेख

संगीत - संगीत कार्यालय, हाथरस.

संगीत कला विहार - अ. भा. गंधर्व महाविद्यालय मंडल, मिरज.

छायानट - उ. प्र. संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ.

Journal of the Indian Musicological Society, Baroda.

English

A Critique of Hindustani Music and Music Education _ Dr. S.S. Awasthi, Dhanpat Rai & Sons, Jullundhar.

A Historical Study of Indian Music - Swami Prajana Nand, Munshi Ram Manohar Lal publisher Pvt. Ltd., New Delhi, 1980.

About learning and Memory - V.K. Kothurkar, Wiley Eastern Ltd., N. Delhi, 1985.

Behaviour - An Introduction to Comperative Psychology, Watson J.B.

Educational Psychology - Charles E. Skinner.

Essays in Musicology - Ed., Prof. R.C. Mehta, Indian Musicological Society, Baroda, 1983.

Fundamentals of Psychology - Frank A. Geldard, John Wiley and Sons, New York, 1962.

Fundamentals of Objective Psychology - J.E. Dashiell.

General Psychology - J.P. Guilford, Oxford, 1959.

Human Memory - W. Issank, Per Gamon Press, Oxford, 1973.

Hindustani Music in the 20th Century, Wim Van Der Meer, Allied Publishers Pvt. Ltd., N. Delhi, 1980.

Human Action and its Psychological Investigation - Alan Cauld and John Sholler, London, 1977.

Introduction to the Psychology of Music - G. Revesz, Longmans, Green & Co., London, 1946.

Introduction to Psychology - Ernest R. Hilgard, Richard C. Atkinson, Oxford, 1979.

Indian Paintings under the Mughals - Percy Brown, Cosmo Publications, New Delhi, 1981.

Indian Musical Traditions - V.H. Deshpande, Popular Prakashan, Bombay, 1973.

Learning & Memory - C.F. Flaherty, L.W. Hamilton and others, R.M. College Publication, 1977.

Music and Tradition - Ed. D.R. Widdess and R.F., Wolpert, Cambridge, 1981.

Outlines of Psychology - James Sully.

Psychology of Music - Carl E. Seashore, McGraw Hill Book Co., New York.

Psychology for Musicians - Percy C. Buck, Oxford, University, London, 1965.

Principles of Psychology - W.M. Jamh, McMillan, Vol.I.

Psychological Psychology - Wm Mcdougell.

Psychology, The Fundamentals of Human Adjustment, Munn N.L.

Psychology, The Science of Behaviour, Issacon and Max Hutt, 1971.

Personality, A Psychological Introduction, Prof. H.W. Allaport, Henri Holt, 1937.

Psychological Testings - Annastani Annce Macmillan Co., New York, 1959.

Rag Mala Paintings - Klam Ebeling, Bagilins Press, New Delhi.

Ragas and Raginis - A.N. Sanyal, Orient Longman, New Delhi, 1959.

The Psychology of Memory - Allan D. Baddele, N. York.

The Social Psychology of Music, Frans Worth.

The Music of India; A Scientific Study, B.C. Dev. M.M. P. Pvt. Ltd., New Delhi, 1981.

The Psychology of learning - B.R. Bugelski, 1962.

The Processing of Memories, Forgetting and Retention N.E. Spear, N. York, 1978.

The Music of India - H.A. Popley, Y.M.C.A., Calcutta, 1950.

The Music of Hindostan, A.H. Fox Strangways, N. Delhi, 1975.

The Physics of Music - A Wood, London, 1962.

Universal History of Music, S.M. Tagore, The Chow Khambha Series, Varanashi, 1963.